

अध्याय छह

ध्यानयोग

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।

स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अनाश्रितः—शरण ग्रहण किये बिना; कर्म-फलम्—कर्मफल की; कार्यम्—कर्तव्य; कर्म—कर्म; करोति—करता है; यः—जो; सः—वह; सन्न्यासी—सन्न्यासी; च—भी; योगी—योगी; च—भी; न—नहीं; निः—रहित; अग्निः—अग्नि; न—न तो; च—भी; अक्रियः—क्रियाहीन।

श्रीभगवान् ने कहा—जो पुरुष अपने कर्मफल के प्रति अनासक्त है और जो अपने कर्तव्य का पालन करता है, वही सन्न्यासी और असली योगी है। वह नहीं, जो न तो अग्नि जलाता है और न कर्म करता है।

तात्पर्य

इस अध्याय में भगवान् बताते हैं कि अष्टांगयोग पद्धति मन तथा इन्द्रियों को वश में करने का साधन है। किन्तु इस कलियुग में सामान्य जनता के लिए इसे सम्पन्न कर पाना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि इस अध्याय में अष्टांगयोग पद्धति की संस्तुति की गई है, किन्तु भगवान् बल देते हैं कि कर्मयोग या कृष्णभावनामृत में कर्म करना इससे श्रेष्ठ है। इस संसार में प्रत्येक मनुष्य अपने परिवार के पालनार्थ तथा अपनी सामग्री के रक्षार्थ कर्म करता है, किन्तु कोई भी मनुष्य बिना किसी स्वार्थ, किसी व्यक्तिगत तृप्ति के, चाहे वह तृप्ति आत्मकेन्द्रित हो या व्यापक, कर्म नहीं करता। पूर्णता की कसौटी है—कृष्णभावनामृत में कर्म करना, कर्म के फलों का भोग

करने के उद्देश्य से नहीं। कृष्णभावनामृत में कर्म करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है, क्योंकि सभी लोग परमेश्वर के अंश हैं। शरीर के अंग पूरे शरीर के लिए कार्य करते हैं। शरीर के अंग अपनी तुष्टि के लिए नहीं, अपितु पूरे शरीर की तुष्टि के लिए कार्य करते हैं। इसी प्रकार जो जीव अपनी तुष्टि के लिए नहीं, अपितु परब्रह्म की तुष्टि के लिए कार्य करता है, वही पूर्ण संन्यासी या पूर्ण योगी है।

कभी-कभी संन्यासी सोचते हैं कि उन्हें सारे कार्यों से मुक्ति मिल गई, अतः वे अग्निहोत्र यज्ञ करना बन्द कर देते हैं, लेकिन वस्तुतः वे स्वार्थी हैं क्योंकि उनका लक्ष्य निराकार ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित करना होता है। ऐसी इच्छा भौतिक इच्छा से तो श्रेष्ठ है, किन्तु यह स्वार्थ से रहित नहीं होती। इसी प्रकार जो योगी समस्त कर्म बन्द करके अर्धनिमीलित नेत्रों से योगाभ्यास करता है, वह भी आत्मतुष्टि की इच्छा से पूरित होता है। किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति बिना किसी स्वार्थ के पूर्णब्रह्म की तुष्टि के लिए कर्म करता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को कभी भी आत्मतुष्टि की इच्छा नहीं रहती। उसका एकमात्र लक्ष्य कृष्ण को प्रसन्न करना रहता है, अतः वह पूर्ण संन्यासी या पूर्णयोगी होता है। त्याग के सर्वोच्च प्रतीक भगवान् चैतन्य प्रार्थना करते हैं—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।

मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥

“हे सर्वशक्तिमान् प्रभु! मुझे न तो धन-संग्रह की कामना है, न मैं सुन्दर स्त्रियों के साथ रमण करने का अभिलाषी हूँ, न ही मुझे अनुयायियों की कामना है। मैं तो जन्म-जन्मान्तर आपकी प्रेमाभक्ति की अहैतुकी कृपा का ही अभिलाषी हूँ।”

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।

न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; सन्न्यासम्—संन्यास; इति—इस प्रकार; प्राहुः—कहते हैं; योगम्—परब्रह्म के साथ युक्त होना; तम्—उसे; विद्धि—जानो; पाण्डव—हे पाण्डुपुत्र; न—

कभी नहीं; हि—निश्चय ही; असन्न्यस्त—बिना त्यागे; सङ्कल्पः—आत्मतृप्ति की इच्छा; योगी—योगी; भवति—होता है; कश्चन—कोई।

हे पाण्डुपुत्र! जिसे संन्यास कहते हैं उसे ही तुम योग अर्थात् परब्रह्म से युक्त होना जानो क्योंकि इन्द्रियतृप्ति के लिए इच्छा को त्यागे बिना कोई कभी योगी नहीं हो सकता।

तात्पर्य

वास्तविक संन्यास-योग या भक्ति का अर्थ है कि जीवात्मा अपनी स्वाभाविक स्थिति को जाने और तदनुसार कर्म करे। जीवात्मा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। वह परमेश्वर की तटस्था शक्ति है। जब वह माया के वशीभूत होता है तो वह बद्ध हो जाता है, किन्तु जब वह कृष्णभावनाभावित रहता है अर्थात् आध्यात्मिक शक्ति में सजग रहता है तो वह अपनी सहज स्थिति में होता है। इस प्रकार जब मनुष्य पूर्णज्ञान में होता है तो वह समस्त इन्द्रियतृप्ति को त्याग देता है अर्थात् समस्त इन्द्रियतृप्ति के कार्यकलापों का परित्याग कर देता है। इसका अभ्यास योगी करते हैं जो इन्द्रियों को भौतिक आसक्ति से रोकते हैं। किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को तो ऐसी किसी भी वस्तु में अपनी इन्द्रिय लगाने का अवसर ही नहीं मिलता जो कृष्ण के निमित्त न हो। फलतः कृष्णभावनाभावित व्यक्ति संन्यासी तथा योगी साथ-साथ होता है। ज्ञान तथा इन्द्रियनिग्रह योग के ये दोनों प्रयोजन कृष्णभावनामृत द्वारा स्वतः पूरे हो जाते हैं। यदि मनुष्य स्वार्थ का त्याग नहीं कर पाता तो ज्ञान तथा योग व्यर्थ रहते हैं। जीवात्मा का मुख्य ध्येय तो समस्त प्रकार की आत्मतृप्ति को त्यागकर परमेश्वर की तुष्टि करने के लिए तैयार रहना है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति में किसी प्रकार की आत्मतृप्ति की इच्छा नहीं रहती। वह सदैव परमेश्वर की प्रसन्नता में लगा रहता है, अतः जिसे परमेश्वर के विषय में कुछ भी पता नहीं होता वही स्वार्थ पूर्ति में लगा रहता है क्योंकि कोई कभी निष्क्रिय नहीं रह सकता। कृष्णभावनामृत का अभ्यास करने से सारे कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हो जाते हैं।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

आरुरुक्षोः—जिसने अभी योग प्रारम्भ किया है; मुनेः—मुनि की; योगम्—अष्टांगयोग पद्धति; कर्म—कर्म; कारणम्—साधन; उच्यते—कहलाता है; योग—अष्टांगयोग; आरूढस्य—प्राप्त होने वाले का; तस्य—उसका; एव—निश्चय ही; शमः—सम्पूर्ण भौतिक कार्यकलापों का त्याग; कारणम्—कारण; उच्यते—कहा जाता है।

अष्टांगयोग के नवसाधक के लिए कर्म साधन कहलाता है और योगसिद्ध पुरुष के लिए समस्त भौतिक कार्यकलापों का परित्याग ही साधन कहा जाता है।

तात्पर्य

परमेश्वर से युक्त होने की विधि योग कहलाती है। इसकी तुलना उस सीढ़ी से की जा सकती है जिससे सर्वोच्च आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त की जाती है। यह सीढ़ी जीव की अधम अवस्था से प्रारम्भ होकर आध्यात्मिक जीवन के पूर्ण आत्म-साक्षात्कार तक जाती है। विभिन्न चढ़ावों के अनुसार इस सीढ़ी के विभिन्न भाग भिन्न-भिन्न नामों से जाने जाते हैं। किन्तु कुल मिलाकर यह पूरी सीढ़ी योग कहलाती है और इसे तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—ज्ञानयोग, ध्यानयोग तथा भक्तियोग। सीढ़ी के प्रारम्भिक भाग को योगारुरुक्षु अवस्था और अन्तिम भाग को योगारूढ कहा जाता है।

जहाँ तक अष्टांगयोग का सम्बन्ध है, विभिन्न यम-नियमों तथा आसनों (जो प्रायः शारीरिक मुद्राएँ ही हैं) के द्वारा ध्यान में प्रविष्ट होने के लिए आरम्भिक प्रयासों को सकाम कर्म माना जाता है। ऐसे कर्मों से पूर्ण मानसिक सन्तुलन प्राप्त होता है जिससे इन्द्रियाँ वश में होती हैं। जब मनुष्य पूर्ण ध्यान में सिद्धहस्त हो जाता है तो विचलित करने वाले समस्त मानसिक कार्य बन्द हुए माने जाते हैं।

किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति प्रारम्भ से ही ध्यानावस्थित रहता है क्योंकि वह निरन्तर कृष्ण का चिन्तन करता है। इस प्रकार कृष्ण की सेवा में सतत व्यस्त रहने के कारण उसके सारे भौतिक कार्यकलाप बन्द हुए माने जाते हैं।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; हि—निश्चय ही; न—नहीं; इन्द्रिय-अर्थेषु—इन्द्रियतृप्ति में; न—कभी नहीं; कर्मसु—सकाम कर्म में; अनुषज्जते—निरत रहता है; सर्व-सङ्कल्प—समस्त भौतिक इच्छाओं का; सन्न्यासी—त्याग करने वाला; योग-आरूढः—योग में स्थित; तदा—उस समय; उच्यते—कहलाता है ।

जब कोई पुरुष समस्त भौतिक इच्छाओं का त्याग करके न तो इन्द्रियतृप्ति के लिए कार्य करता है और न सकामकर्मों में प्रवृत्त होता है तो वह योगारूढ कहलाता है ।

तात्पर्य

जब मनुष्य भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में पूरी तरह लगा रहता है तो वह अपने आप में प्रसन्न रहता है और इस तरह वह इन्द्रियतृप्ति या सकामकर्म में प्रवृत्त नहीं होता । अन्यथा इन्द्रियतृप्ति में लगना ही पड़ता है, क्योंकि कर्म किए बिना कोई रह नहीं सकता । बिना कृष्णभावनामृत के मनुष्य सदैव स्वार्थ में तत्पर रहता है । किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही सब कुछ करता है, फलतः वह इन्द्रियतृप्ति से पूरी तरह विरक्त रहता है । जिसे ऐसी अनुभूति प्राप्त नहीं है उसे चाहिए कि भौतिक इच्छाओं से बचे रहने का वह यंत्रवत् प्रयास करे, तभी वह योग की सीढ़ी से ऊपर पहुँच सकता है ।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

उद्धरेत्—उद्धार करे; आत्मना—मन से; आत्मानम्—बद्धजीव को; न—कभी नहीं; आत्मानम्—बद्धजीव को; अवसादयेत्—पतन होने दे; आत्मा—मन; एव—निश्चय ही; हि—निस्सन्देह; आत्मनः—बद्धजीव का; बन्धुः—मित्र; आत्मा—मन; एव—निश्चय ही; रिपुः—शत्रु; आत्मनः—बद्धजीव का ।

मनुष्य को चाहिए कि अपने मन की सहायता से अपना उद्धार करे और अपने को नीचे न गिरने दे। यह मन बद्धजीव का मित्र भी है और शत्रु भी।

तात्पर्य

प्रसंग के अनुसार आत्मा शब्द का अर्थ शरीर, मन तथा आत्मा होता है। योगपद्धति में मन तथा आत्मा का विशेष महत्त्व है। चूँकि मन ही योगपद्धति का केन्द्रबिन्दु है, अतः इस प्रसंग में आत्मा का तात्पर्य मन होता है। योगपद्धति का उद्देश्य मन को रोकना तथा इन्द्रियविषयों के प्रति आसक्ति से उसे हटाना है। यहाँ पर इस बात पर बल दिया गया है कि मन को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाय कि वह बद्धजीव को अज्ञान के दलदल से निकाल सके। इस जगत् में मनुष्य मन तथा इन्द्रियों के द्वारा प्रभावित होता है। वास्तव में शुद्ध आत्मा इस संसार में इसीलिए फँसा हुआ है क्योंकि मन मिथ्या अहंकार में लगकर प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व जताना चाहता है। अतः मन को इस प्रकार प्रशिक्षित करना चाहिए कि वह प्रकृति की तड़क-भड़क से आकृष्ट न हो और इस तरह बद्धजीव की रक्षा की जा सके। मनुष्य को इन्द्रियविषयों में आकृष्ट होकर अपने को पतित नहीं करना चाहिए। जो जितना ही इन्द्रियविषयों के प्रति आकृष्ट होता है वह उतना ही इस संसार में फँसता जाता है। अपने को विरत करने का सर्वोत्कृष्ट साधन यही है कि मन को सदैव कृष्णभावनामृत में निरत रखा जाय। *हि* शब्द इस बात पर बल देने के लिए प्रयुक्त हुआ है अर्थात् इसे अवश्य करना चाहिए। *अमृतबिन्दु उपनिषद्* में (२) कहा भी गया है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

बन्धाय विषयासंगो मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥

“मन ही मनुष्य के बन्धन का और मोक्ष का भी कारण है। इन्द्रियविषयों में लीन मन बन्धन का कारण है और विषयों से विरक्त मन मोक्ष का कारण है।” अतः जो मन निरन्तर कृष्णभावनामृत में लगा रहता है, वही परम मुक्ति का कारण है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

बन्धुः—मित्र; आत्मा—मन; आत्मनः—जीव का; तस्य—उसका; येन—जिससे;
आत्मा—मन; एव—निश्चय ही; आत्मना—जीवात्मा के द्वारा; जितः—विजित;
अनात्मनः—जो मन को वश में नहीं कर पाया उसका; तु—लेकिन; शत्रुत्वे—शत्रुता
के कारण; वर्तेत—बना रहता है; आत्मा एव—वही मन; शत्रु-वत्—शत्रु की भाँति।

जिसने मन को जीत लिया है उसके लिए मन सर्वश्रेष्ठ मित्र है, किन्तु जो ऐसा नहीं कर पाया उसके लिए मन सबसे बड़ा शत्रु बना रहेगा।

तात्पर्य

अष्टांगयोग के अभ्यास का प्रयोजन मन को वश में करना है, जिससे मानवीय लक्ष्य प्राप्त करने में वह मित्र बना रहे। मन को वश में किये बिना योगाभ्यास करना मात्र समय को नष्ट करना है। जो अपने मन को वश में नहीं कर सकता, वह सतत अपने परम शत्रु के साथ निवास करता है और इस तरह उसका जीवन तथा लक्ष्य दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। जीव की स्वाभाविक स्थिति यह है कि वह अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करे। अतः जब तक मन अविजित शत्रु बना रहता है, तब तक मनुष्य को काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि की आज्ञाओं का पालन करना होता है। किन्तु जब मन पर विजय प्राप्त हो जाती है, तो मनुष्य इच्छानुसार उस भगवान् की आज्ञा का पालन करता है जो सबों के हृदय में परमात्मास्वरूप स्थित है। वास्तविक योगाभ्यास हृदय के भीतर परमात्मा से भेंट करना तथा उनकी आज्ञा का पालन करना है। जो व्यक्ति साक्षात् कृष्णभावनामृत स्वीकार करता है वह भगवान् की आज्ञा के प्रति स्वतः समर्पित हो जाता है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

जित-आत्मनः—जिसने मन को जीत लिया है; प्रशान्तस्य—मन को वश में करके शान्ति प्राप्त करने वाले का; परम-आत्मा—परमात्मा; समाहितः—पूर्णरूप से प्राप्त;

शीत—सर्दी; उष्ण—गर्मी में; सुख—सुख; दुःखेषु—तथा दुःख में; तथा—भी;
मान—सम्मान; अपमानयोः—तथा अपमान में।

जिसने मन को जीत लिया है, उसने पहले ही परमात्मा को प्राप्त कर लिया है, क्योंकि उसने शान्ति प्राप्त कर ली है। ऐसे पुरुष के लिए सुख-दुख, सर्दी-गर्मी एवं मान-अपमान एक से हैं।

तात्पर्य

वस्तुतः प्रत्येक जीव उस भगवान् की आज्ञा का पालन करने के निमित्त आया है, जो जन-जन के हृदयों में परमात्मा-रूप में स्थित है। जब मन बहिरंगा माया द्वारा विपथ कर दिया जाता है तब मनुष्य भौतिक कार्यकलापों में उलझ जाता है। अतः ज्योंही मन किसी योगपद्धति द्वारा वश में आ जाता है त्योंही मनुष्य को लक्ष्य पर पहुँचा हुआ मान लिया जाना चाहिए। मनुष्य को भगवद्-आज्ञा का पालन करना चाहिए। जब मनुष्य का मन परा-प्रकृति में स्थिर हो जाता है तो जीवात्मा के समक्ष भगवद्-आज्ञा पालन करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रह जाता। मन को किसी न किसी उच्च आदेश को मानकर उसका पालन करना होता है। मन को वश में करने से स्वतः ही परमात्मा के आदेश का पालन होता है। चूँकि कृष्णभावनाभावित होते ही यह दिव्य स्थिति प्राप्त हो जाती है, अतः भगवद्भक्त संसार के द्वन्द्वों, यथा सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी आदि से अप्रभावित रहता है। यह अवस्था व्यावहारिक समाधि या परमात्मा में तल्लीनता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।

युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ट्राश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—अर्जित ज्ञान; विज्ञान—अनुभूत ज्ञान से; तृप्त—सन्तुष्ट; आत्मा—जीव; कूट-स्थः—आध्यात्मिक रूप से स्थित; विजित-इन्द्रियः—इन्द्रियों को वश में करके;
युक्तः—आत्म-साक्षात्कार के लिए सक्षम; इति—इस प्रकार; उच्यते—कहा जाता है;
योगी—योग का साधक; सम—समदर्शी; लोष्ट्र—कंकड़; अश्म—पत्थर; काञ्चनः—स्वर्ण।

वह व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त तथा योगी कहलाता है जो अपने अर्जित ज्ञान तथा अनुभूति से पूर्णतया सन्तुष्ट रहता है। ऐसा व्यक्ति अध्यात्म को प्राप्त तथा जितेन्द्रिय कहलाता है। वह सभी वस्तुओं को—चाहे वे कंकड़ हों, पत्थर हों या कि सोना—एकसमान देखता है।

तात्पर्य

परम सत्य की अनुभूति के बिना कोरा ज्ञान व्यर्थ होता है। भक्तिरसामृत सिन्धु में (१.२.२३४) कहा गया है—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः ।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ॥

“कोई भी व्यक्ति अपनी दूषित इन्द्रियों के द्वारा श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण तथा उनकी लीलाओं की दिव्य प्रकृति को नहीं समझ सकता। भगवान् की दिव्य सेवा से पूरित होने पर ही कोई उनके दिव्य नाम, रूप, गुण तथा लीलाओं को समझ सकता है।”

यह भगवद्गीता कृष्णभावनामृत का विज्ञान है। मात्र संसारी विद्वत्ता से कोई कृष्णभावनाभावित नहीं हो सकता। उसे विशुद्ध चेतना वाले व्यक्ति का सान्निध्य प्राप्त होने का सौभाग्य मिलना चाहिए। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को भगवत्कृपा से ज्ञान की अनुभूति होती है, क्योंकि वह विशुद्ध भक्ति से तुष्ट रहता है। अनुभूत ज्ञान से वह पूर्ण बनता है। आध्यात्मिक ज्ञान से मनुष्य अपने संकल्पों में दृढ़ रह सकता है, किन्तु मात्र शैक्षिक ज्ञान से वह बाह्य विरोधाभासों द्वारा मोहित और भ्रमित होता रहता है। केवल अनुभवी आत्मा ही आत्मसंयमी होता है, क्योंकि वह कृष्ण की शरण में जा चुका होता है। वह दिव्य होता है क्योंकि उसे संसारी विद्वत्ता से कुछ लेना-देना नहीं रहता। उसके लिए संसारी विद्वत्ता तथा मनोधर्म, जो अन्यो के लिए स्वर्ण के समान उत्तम होते हैं, कंकड़ों या पत्थरों से अधिक नहीं होते।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सु-हृत्—स्वभाव से; मित्र—स्नेहपूर्ण हितेच्छु; अरि—शत्रु; उदासीन—शत्रुओं में तटस्थ; मध्य-स्थ—शत्रुओं में पंच; द्वेष्य—ईर्ष्यालु; बन्धुषु—सम्बन्धियों या शुभेच्छुकों में; साधुषु—साधुओं में; अपि—भी; च—तथा; पापेषु—पापियों में; सम-बुद्धिः—समान बुद्धि वाला; विशिष्यते—आगे बढ़ा हुआ होता है।

जब मनुष्य निष्कपट हितैषियों, प्रिय मित्रों, तटस्थों, मध्यस्थों, ईर्ष्यालुओं, शत्रुओं तथा मित्रों, पुण्यात्माओं एवं पापियों को समान भाव से देखता है, तो वह और भी उन्नत माना जाता है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।

एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

योगी—योगी; युञ्जीत—कृष्णचेतना में केन्द्रित करे; सततम्—निरन्तर; आत्मानम्—स्वयं को (मन, शरीर तथा आत्मा से) ; रहसि—एकान्त स्थान में; स्थितः—स्थित होकर; एकाकी—अकेले; यत-चित्त-आत्मा—मन में सदैव सचेत; निराशीः—किसी अन्य वस्तु से आकृष्ट हुए बिना; अपरिग्रहः—स्वामित्व की भावना से रहित, संग्रहभाव से मुक्त।

योगी को चाहिए कि वह सदैव अपने शरीर, मन तथा आत्मा को परमेश्वर में लगाए, एकान्त स्थान में रहे और बड़ी सावधानी के साथ अपने मन को वश में करे। उसे समस्त आकांक्षाओं तथा संग्रहभाव की इच्छाओं से मुक्त होना चाहिए।

तात्पर्य

कृष्ण की अनुभूति ब्रह्म, परमात्मा तथा श्रीभगवान् के विभिन्न रूपों में होती है। संक्षेप में, कृष्णभावनामृत का अर्थ है—भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर प्रवृत्त रहना। किन्तु जो लोग निराकार ब्रह्म अथवा अन्तर्यामी परमात्मा के प्रति आसक्त होते हैं, वे भी आंशिक रूप से

कृष्णभावनाभावित हैं क्योंकि निराकार ब्रह्म कृष्ण की आध्यात्मिक किरण है और परमात्मा कृष्ण का सर्वव्यापी आंशिक विस्तार होता है। इस प्रकार निर्विशेषवादी तथा ध्यानयोगी भी अपरोक्ष रूप से कृष्णभावनाभावित होते हैं। प्रत्यक्ष कृष्णभावनाभावित व्यक्ति सर्वोच्च योगी होता है क्योंकि ऐसा भक्त जानता है कि ब्रह्म और परमात्मा क्या हैं। उसका परम सत्य विषयक ज्ञान पूर्ण होता है, जबकि निर्विशेषवादी तथा ध्यानयोगी अपूर्ण रूप में कृष्णभावनाभावित होते हैं।

इतने पर भी इन सबों को अपने-अपने कार्यों में निरन्तर लगे रहने का आदेश दिया जाता है, जिससे वे देर-सवेर परम सिद्धि प्राप्त कर सकें। योगी का पहला कर्तव्य है कि वह कृष्ण पर अपना ध्यान सदैव एकाग्र रखे। उसे सदैव कृष्ण का चिन्तन करना चाहिए और एक क्षण के लिए भी उन्हें नहीं भुलाना चाहिए। परमेश्वर में मन की एकाग्रता ही समाधि कहलाती है। मन को एकाग्र करने के लिए सदैव एकान्तवास करना चाहिए और बाहरी उपद्रवों से बचना चाहिए। योगी को चाहिए कि वह अनुकूल परिस्थितियों को ग्रहण करे और प्रतिकूल परिस्थितियों को त्याग दे, जिससे उसकी अनुभूति पर कोई प्रभाव न पड़े। पूर्ण संकल्प कर लेने पर उसे उन व्यर्थ की वस्तुओं के पीछे नहीं पड़ना चाहिए जो परिग्रह भाव में उसे फँसा लें।

ये सारी सिद्धियाँ तथा सावधानियाँ तभी पूर्णरूपेण कार्यान्वित हो सकती हैं जब मनुष्य प्रत्यक्षतः कृष्णभावनाभावित हो क्योंकि साक्षात् कृष्णभावनामृत का अर्थ है—आत्मोत्सर्ग जिसमें संग्रहभाव (परिग्रह) के लिए लेशमात्र स्थान नहीं होता। श्रील रूपगोस्वामी कृष्णभावनामृत का लक्षण इस प्रकार देते हैं—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः ।

निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते ॥

प्रापञ्चितया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः ।

मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते ॥

“जब मनुष्य किसी वस्तु के प्रति आसक्त न रहते हुए कृष्ण से सम्बन्धित हर वस्तु को स्वीकार कर लेता है, तभी वह परिग्रहत्व से ऊपर

स्थित रहता है। दूसरी ओर, जो व्यक्ति कृष्ण से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु को बिना जाने त्याग देता है उसका वैराग्य पूर्ण नहीं होता।” (भक्तिरसामृत सिन्धु २.२५५-२५६)।

कृष्णभावनाभावित व्यक्ति भलीभाँति जानता रहता है कि प्रत्येक वस्तु श्रीकृष्ण की है, फलस्वरूप वह सभी प्रकार के परिग्रहभाव से मुक्त रहता है। इस प्रकार वह अपने लिए किसी वस्तु की लालसा नहीं करता। वह जानता है कि किस प्रकार कृष्णभावनामृत के अनुरूप वस्तुओं को स्वीकार किया जाता है और कृष्णभावनामृत के प्रतिकूल वस्तुओं का परित्याग कर दिया जाता है। वह सदैव भौतिक वस्तुओं से दूर रहता है, क्योंकि वह दिव्य होता है और कृष्णभावनामृत से रहित व्यक्तियों से किसी प्रकार का सरोकार न रखने के कारण सदा अकेला रहता है। अतः कृष्णभावनामृत में रहने वाला व्यक्ति पूर्णयोगी होता है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

शुचौ—पवित्र; देशे—भूमि में; प्रतिष्ठाप्य—स्थापित करके; स्थिरम्—ढढ़; आसनम्—आसन; आत्मनः—स्वयं का; न—नहीं; अति—अत्यधिक; उच्छ्रितम्—ऊँचा; न—न तो; अति—अधिक; नीचम्—निम्न, नीचा; चैल-अजिन—मुलायम वस्त्र तथा मृगछाला; कुश—तथा कुशा का; उत्तरम्—आवरण; तत्र—उस पर; एक-अग्रम्—एकाग्र; मनः—मन; कृत्वा—करके; यत-चित्त—मन को वश में करते हुए; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; क्रियः—तथा क्रियाएँ; उपविश्य—बैठकर; आसने—आसन पर; युञ्ज्यात्—अभ्यास करे; योगम्—योग; आत्म—हृदय की; विशुद्धये—शुद्धि के लिए।

योगाभ्यास के लिए योगी एकान्त स्थान में जाकर भूमि पर कुशा बिछा दे और फिर उसे मृगछाला से ढके तथा ऊपर से मुलायम वस्त्र बिछा दे। आसन न तो बहुत ऊँचा हो, न बहुत नीचा। यह पवित्र स्थान में स्थित हो। योगी को चाहिए

कि इस पर दृढ़तापूर्वक बैठ जाय और मन, इन्द्रियों तथा कर्मों को वश में करते हुए तथा मन को एक बिन्दु पर स्थिर करके हृदय को शुद्ध करने के लिए योगाभ्यास करे।

तात्पर्य

‘पवित्र स्थान’ तीर्थस्थान का सूचक है। भारत में योगी तथा भक्त अपना घर त्याग कर प्रयाग, मथुरा, वृन्दावन, हृषीकेश तथा हरिद्वार जैसे पवित्र स्थानों में वास करते हैं और एकान्तस्थान में योगाभ्यास करते हैं, जहाँ यमुना तथा गंगा जैसी नदियाँ प्रवाहित होती हैं। किन्तु प्रायः ऐसा करना सबों के लिए, विशेषतया पाश्चात्यों के लिए, सम्भव नहीं है। बड़े-बड़े शहरों की तथाकथित योग-समितियाँ भले ही धन कमा लें, किन्तु वे योग के वास्तविक अभ्यास के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होती हैं। जिसका मन विचलित है और जो आत्मसंयमी नहीं है, वह ध्यान का अभ्यास नहीं कर सकता। अतः *बृहन्नारदीय पुराण* में कहा गया है कि कलियुग (वर्तमान युग) में, जबकि लोग अल्पजीवी, आत्म-साक्षात्कार में मन्द तथा चिन्ताओं से व्यग्र रहते हैं, भगवत्प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ माध्यम भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

“कलह और दम्भ के इस युग में मोक्ष का एकमात्र साधन भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करना है। कोई दूसरा मार्ग नहीं है। कोई दूसरा मार्ग नहीं है। कोई दूसरा मार्ग नहीं है।”

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।

सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत् मत्परः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

समम्—सीधा; काय—शरीर; शिरः—सिर; ग्रीवम्—तथा गर्दन को; धारयन्—रखते हुए; अचलम्—अचल; स्थिरः—शान्त; सम्प्रेक्ष्य—देखकर; नासिका—नाक के;

अग्रम्—अग्रभाग को; स्वम्—अपनी; दिशः—सभी दिशाओं में; च—भी;
 अनवलोकयन्—न देखते हुए; प्रशान्त—अविचलित; आत्मा—मन; विगत-भीः—भय
 से रहित; ब्रह्मचारि-व्रते—ब्रह्मचर्य व्रत में; स्थितः—स्थित; मनः—मन को; संयम्य—
 पूर्णतया दमित करके; मत्—मुझ (कृष्ण) में; चित्तः—मन को केन्द्रित करते हुए;
 युक्तः—वास्तविक योगी; आसीत्—बैठे; मत्—मुझमें; परः—चरम लक्ष्य।

योगाभ्यास करने वाले को चाहिए कि वह अपने शरीर,
 गर्दन तथा सिर को सीधा रखे और नाक के अगले सिरे पर
 दृष्टि लगाए। इस प्रकार वह अविचलित तथा दमित मन से,
 भयरहित, विषयीजीवन से पूर्णतया मुक्त होकर अपने हृदय में
 मेरा चिन्तन करे और मुझे ही अपना चरमलक्ष्य बनाए।

तात्पर्य

जीवन का उद्देश्य कृष्ण को जानना है जो प्रत्येक जीव के हृदय में
 चतुर्भुज परमात्मा रूप में स्थित हैं। योगाभ्यास का प्रयोजन विष्णु के इसी
 अन्तर्यामी रूप की खोज करने तथा देखने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।
 अन्तर्यामी विष्णुमूर्ति प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में निवास करने वाले कृष्ण का
 स्वांश रूप है। जो इस विष्णुमूर्ति की अनुभूति करने के अतिरिक्त किसी
 अन्य कपटयोग में लगा रहता है, वह निस्सन्देह अपने समय का अपव्यय
 करता है। कृष्ण ही जीवन के परम लक्ष्य हैं और प्रत्येक हृदय में स्थित
 विष्णुमूर्ति ही योगाभ्यास का लक्ष्य है। हृदय के भीतर इस विष्णुमूर्ति की
 अनुभूति प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्यव्रत अनिवार्य है, अतः मनुष्य को
 चाहिए कि घर छोड़ दे और किसी एकान्त स्थान में बताई गई विधि से
 आसीन होकर रहे। नित्यप्रति घर में या अन्यत्र मैथुन-भोग करते हुए और
 तथाकथित योग की कक्षा में जाने मात्र से कोई योगी नहीं हो जाता। उसे
 मन को संयमित करने का अभ्यास करना होता है और सभी प्रकार की
 इन्द्रियतृप्ति से, जिसमें मैथुन-जीवन मुख्य है, बचना होता है। महान ऋषि
 याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मचर्य के नियमों में बताया है—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।

सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥

“सभी कालों में, सभी अवस्थाओं में तथा सभी स्थानों में मनसा
 वाचा कर्मणा मैथुन-भोग से पूर्णतया दूर रहने में सहायता करना ही

ब्रह्मचर्यव्रत का लक्ष्य है।” मैथुन में प्रवृत्त रहकर योगाभ्यास नहीं किया जा सकता। इसीलिए बचपन से जब मैथुन का कोई ज्ञान भी नहीं होता ब्रह्मचर्य की शिक्षा दी जाती है। पाँच वर्ष की आयु में बच्चों को गुरुकुल भेजा जाता है, जहाँ गुरु उन्हें ब्रह्मचारी बनने के दृढ नियमों की शिक्षा देता है। ऐसे अभ्यास के बिना किसी भी योग में उन्नति नहीं की जा सकती, चाहे वह ध्यान हो, या कि ज्ञान या भक्ति। किन्तु जो व्यक्ति विवाहित जीवन के विधि-विधानों का पालन करता है और अपनी ही पत्नी से मैथुन-सम्बन्ध रखता है वह भी ब्रह्मचारी कहलाता है। ऐसे संयमशील गृहस्थ-ब्रह्मचारी को भक्ति सम्प्रदाय में स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु ज्ञान तथा ध्यान सम्प्रदाय वाले ऐसे गृहस्थ-ब्रह्मचारी को भी प्रवेश नहीं देते। उनके लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। भक्ति सम्प्रदाय में गृहस्थ-ब्रह्मचारी को संयमित मैथुन की अनुमति रहती है, क्योंकि भक्ति सम्प्रदाय इतना शक्तिशाली है कि भगवान् की सेवा में लगे रहने से वह स्वतः ही मैथुन का आकर्षण त्याग देता है।

भगवद्गीता में (२.५९) कहा गया है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

जहाँ अन्यो को विषयभोग से दूर रहने के लिए बाध्य किया जाता है वहीं भगवद्भक्त भगवद्रसास्वादन के कारण इन्द्रियतृप्ति से स्वतः विरक्त हो जाता है। भक्त को छोड़कर अन्य किसी को इस अनुपम रस का ज्ञान नहीं होता।

विगत-भीः पूर्ण कृष्णभावनाभावित हुए बिना मनुष्य निर्भय नहीं हो सकता। बद्धजीव अपनी विकृत स्मृति अथवा कृष्ण के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध की विस्मृति के कारण भयभीत रहता है। *भागवत* का (११.२.३७) कथन है—*भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्याद् ईशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः*। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ही योग का पूर्ण अभ्यास कर सकता है और चूँकि योगाभ्यास का चरम लक्ष्य अन्तःकरण में भगवान् का दर्शन पाना है, अतः कृष्णभावनाभावित व्यक्ति पहले ही समस्त योगियों में

श्रेष्ठ होता है। यहाँ पर वर्णित योगविधि के नियम तथाकथित लोकप्रिय योग-समितियों से भिन्न हैं।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

युञ्जन्—अभ्यास करते हुए; एवम्—इस प्रकार से; सदा—निरन्तर; आत्मानम्—शरीर, मन तथा आत्मा; योगी—योग का साधक; नियत-मानसः—संयमित मन से युक्त; शान्तिम्—शान्ति को; निर्वाण-परमाम्—भौतिक अस्तित्व का अन्त; मत्-संस्थाम्—चिन्मयव्योम (भगवद्धाम) को; अधिगच्छति—प्राप्त करता है।

इस प्रकार शरीर, मन तथा कर्म में निरन्तर संयम का अभ्यास करते हुए संयमित मन वाले योगी को इस भौतिक अस्तित्व की समाप्ति पर भगवद्धाम की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य

अब योगाभ्यास के चरम लक्ष्य का स्पष्टीकरण किया जा रहा है। योगाभ्यास किसी भौतिक सुविधा की प्राप्ति के लिए नहीं किया जाता, इसका उद्देश्य तो भौतिक संसार से विरक्ति प्राप्त करना है। जो कोई इसके द्वारा स्वास्थ्य-लाभ चाहता है या भौतिक सिद्धि प्राप्त करने का इच्छुक होता है वह *भगवद्गीता* के अनुसार योगी नहीं है। न ही भौतिक अस्तित्व की समाप्ति का अर्थ शून्य में प्रवेश है क्योंकि यह कपोलकल्पना है। भगवान् की सृष्टि में कहीं भी शून्य नहीं है। उल्टे भौतिक अस्तित्व की समाप्ति से मनुष्य भगवद्धाम में प्रवेश करता है। *भगवद्गीता* में भगवद्धाम का भी स्पष्टीकरण किया गया है कि यह वह स्थान है जहाँ न सूर्य की आवश्यकता है, न चाँद या बिजली की। आध्यात्मिक राज्य के सारे लोक उसी प्रकार से स्वतः प्रकाशित हैं, जिस प्रकार सूर्य द्वारा यह भौतिक आकाश। वैसे तो भगवद्धाम सर्वत्र है, किन्तु चिन्मयव्योम तथा उसके लोकों को ही परमधाम कहा जाता है।

एक पूर्णयोगी जिसे भगवान् कृष्ण का पूर्णज्ञान है जैसा कि यहाँ पर भगवान् ने स्वयं कहा है (*मच्चितः, मत्परः, मत्स्थानम्*) वास्तविक शान्ति प्राप्त कर सकता है और अन्ततोगत्वा कृष्णलोक या गोलोक वृन्दावन को

प्राप्त होता है। *ब्रह्मसंहिता* में (५.३७) स्पष्ट उल्लेख है—*गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः*—यद्यपि भगवान् सदैव अपने धाम में निवास करते हैं, जिसे गोलोक कहते हैं, तो भी वे अपनी परा-आध्यात्मिक शक्तियों के कारण सर्वव्यापी ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा हैं। कोई भी कृष्ण तथा विष्णु रूप में उनके पूर्ण विस्तार को सही-सही जाने बिना वैकुण्ठ में या भगवान् के नित्यधाम (गोलोक वृन्दावन) में प्रवेश नहीं कर सकता। अतः कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ही पूर्णयोगी है क्योंकि उसका मन सदैव कृष्ण के कार्यकलापों में तल्लीन रहता है (*स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः*)। वेदों में (*श्वेताश्वतर उपनिषद् ३.८*) भी हम पाते हैं—*तमेव विदित्वाति मृत्युमेति*—केवल भगवान् कृष्ण को जानने पर जन्म तथा मृत्यु के पथ को जीता जा सकता है। दूसरे शब्दों में, योग की पूर्णता संसार से मुक्ति प्राप्त करने में है, इन्द्रजाल अथवा व्यायाम के करतबों द्वारा अबोध जनता को मूर्ख बनाने में नहीं।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।

न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अति—अधिक; अश्नतः—खाने वाले का; तु—लेकिन; योगः—भगवान् से जुड़ना; अस्ति—है; न—न तो; च—भी; एकान्तम्—बिल्कुल, नितान्त; अनश्नतः—भोजन न करने वाले का; न—न तो; च—भी; अति—अत्यधिक; स्वप्न-शीलस्य—सोने वाले का; जाग्रतः—अथवा रात भर जागते रहने वाले का; न—नहीं; एव—ही; च—तथा; अर्जुन—हे अर्जुन।

हे अर्जुन! जो अधिक खाता है या बहुत कम खाता है, जो अधिक सोता है अथवा जो पर्याप्त नहीं सोता उसके योगी बनने की कोई सम्भावना नहीं है।

तात्पर्य

यहाँ पर योगियों के लिए भोजन तथा नींद के नियमन की संस्तुति की गई है। अधिक भोजन का अर्थ है शरीर तथा आत्मा को बनाये रखने के लिए आवश्यकता से अधिक भोजन करना। मनुष्यों को मांसाहार करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रचुर मात्रा में अन्न, शाक, फल तथा दुग्ध

उपलब्ध हैं। ऐसे सादे भोज्यपदार्थ *भगवद्गीता* के अनुसार सतोगुणी माने जाते हैं। मांसाहार तो तमोगुणियों के लिए है। अतः जो लोग मांसाहार करते हैं, मद्यपान करते हैं, धूम्रपान करते हैं और कृष्ण को भोग लगाये बिना भोजन करते हैं वे पापकर्मों का भोग करेंगे क्योंकि वे केवल दूषित वस्तुएँ खाते हैं। *भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।* जो व्यक्ति इन्द्रियसुख के लिए खाता है या अपने लिए भोजन बनाता है, किन्तु कृष्ण को भोजन अर्पित नहीं करता वह केवल पाप खाता है। जो पाप खाता है और नियत मात्रा से अधिक भोजन करता है वह पूर्णयोग का पालन नहीं कर सकता। सबसे उत्तम यही है कि कृष्ण को अर्पित भोजन के उच्छिष्ट भाग को ही खाया जाय। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी भी ऐसा भोजन नहीं करता, जो इससे पूर्व कृष्ण को अर्पित न किया गया हो। अतः केवल कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ही योगाभ्यास में पूर्णता प्राप्त कर सकता है। न ही ऐसा व्यक्ति कभी योग का अभ्यास कर सकता है जो कृत्रिम उपवास की अपनी विधियाँ निकाल कर भोजन नहीं करता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति शास्त्रों द्वारा अनुमोदित उपवास करता है। न तो वह आवश्यकता से अधिक उपवास रखता है, न ही अधिक खाता है। इस प्रकार वह योगाभ्यास करने के लिए पूर्णतया योग्य है। जो आवश्यकता से अधिक खाता है वह सोते समय अनेक सपने देखेगा, अतः आवश्यकता से अधिक सोएगा। मनुष्य को प्रतिदिन छः घंटे से अधिक नहीं सोना चाहिए। जो व्यक्ति चौबीस घंटों में से छः घंटों से अधिक सोता है, वह अवश्य ही तमोगुणी है। तमोगुणी व्यक्ति आलसी होता है और अधिक सोता है। ऐसा व्यक्ति योग नहीं साध सकता।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

युक्त—नियमित; आहार—भोजन; विहारस्य—आमोद-प्रमोद का; युक्त—नियमित; चेष्टस्य—जीवन निर्वाह के लिए कर्म करने वाले का; कर्मसु—कर्म करने में; युक्त—नियमित; स्वप्न-अवबोधस्य—नींद तथा जागरण का; योगः—योगाभ्यास; भवति—होता है; दुःख—कष्टों को नष्ट करने वाला ।

जो खाने, सोने, आमोद-प्रमोद तथा काम करने की आदतों में नियमित रहता है, वह योगाभ्यास द्वारा समस्त भौतिक क्लेशों को नष्ट कर सकता है।

तात्पर्य

खाने, सोने, रक्षा करने तथा मैथुन करने में—जो शरीर की आवश्यकताएँ हैं—अति करने से योगाभ्यास की प्रगति रुक जाती है। जहाँ तक खाने का प्रश्न है, इसे तो प्रसादम् या पवित्रीकृत भोजन के रूप में नियमित बनाया जा सकता है। *भगवद्गीता* (९.२६) के अनुसार भगवान् कृष्ण को शाक, फूल, फल, अन्न, दुग्ध आदि भेंट किये जाते हैं। इस प्रकार एक कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को ऐसा भोजन न करने का स्वतः प्रशिक्षण प्राप्त रहता है, जो मनुष्य के खाने योग्य नहीं होता या कि सतोगुणी नहीं होता। जहाँ तक सोने का प्रश्न है, कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कृष्णभावनामृत में कर्म करने में निरन्तर सतर्क रहता है, अतः निद्रा में वह व्यर्थ समय नहीं गँवाता। *अव्यर्थ-कालत्वम्*—कृष्णभावनाभावित व्यक्ति अपना एक मिनट का समय भी भगवान् की सेवा के बिना नहीं बिताना चाहता। अतः वह कम से कम सोता है। इसके आदर्श श्रील रूप गोस्वामी हैं, जो कृष्ण की सेवा में निरन्तर लगे रहते थे और दिनभर में दो घंटे से अधिक नहीं सोते थे, और कभी-कभी तो उतना भी नहीं सोते थे। ठाकुर हरिदास तो अपनी माला में तीन लाख नामों का जप किये बिना न तो प्रसाद ग्रहण करते थे और न सोते ही थे। जहाँ तक कार्य का प्रश्न है, कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ऐसा कोई भी कार्य नहीं करता जो कृष्ण से सम्बन्धित न हो। इस प्रकार उसका कार्य सदैव नियमित रहता है और इन्द्रियतृप्ति से अदूषित। चूँकि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के लिए इन्द्रियतृप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, अतः उसे तनिक भी भौतिक अवकाश नहीं मिलता। चूँकि वह अपने कार्य, वचन, निद्रा, जागृति तथा अन्य सारे शारीरिक कार्यों में नियमित रहता है, अतः उसे कोई भौतिक दुःख नहीं सताता।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।

निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; विनियतम्—विशेष रूप से अनुशासित; चित्तम्—मन तथा उसके कार्य; आत्मनि—अध्यात्म में; एव—निश्चय ही; अवतिष्ठते—स्थित हो जाता है; निस्पृहः—आकांक्षारहित; सर्व—सभी प्रकार की; कामेभ्यः—भौतिक इन्द्रियतृप्ति से; युक्तः—योग में स्थित; इति—इस प्रकार; उच्यते—कहलाता है; तदा—उस समय ।

जब योगी योगाभ्यास द्वारा अपने मानसिक कार्यकलापों को वश में कर लेता है और अध्यात्म में स्थित हो जाता है अर्थात् समस्त भौतिक इच्छाओं से रहित हो जाता है, तब वह योग में सुस्थिर कहा जाता है ।

तात्पर्य

साधारण मनुष्य की तुलना में योगी के कार्यों में यह विशेषता होती है कि वह समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त रहता है जिनमें मैथुन प्रमुख है । एक पूर्णयोगी अपने मानसिक कार्यों में इतना अनुशासित होता है कि उसे कोई भी भौतिक इच्छा विचलित नहीं कर सकती । यह सिद्ध अवस्था कृष्णभावनाभावित व्यक्तियों द्वारा स्वतः प्राप्त हो जाती है, जैसा कि श्रीमद्भागवत में (१.४.१८-२०) कहा गया है—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।

करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥

मुकुन्दलिंगालयदर्शने दृशौ तद्दृश्यगात्रस्पर्शेऽगसंगमम् ।

घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥

पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।

कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥

“राजा अम्बरीष ने सर्वप्रथम अपने मन को भगवान् के चरणकमलों पर स्थिर कर दिया; फिर, क्रमशः अपनी वाणी को कृष्ण के गुणानुवाद में लगाया, हाथों को भगवान् के मन्दिर को स्वच्छ करने, कानों को भगवान् के कार्यकलापों को सुनने, आँखों को भगवान् के दिव्यरूप का दर्शन करने, शरीर को अन्य भक्तों के शरीरों का स्पर्श करने, घ्राणेन्द्रिय को भगवान् पर

चढ़ाये गये कमलपुष्प की सुगन्ध सूँघने, जीभ को भगवान् के चरणकमलों पर चढ़ाये गये तुलसी पत्रों का स्वाद लेने, पाँवों को तीर्थयात्रा करने तथा भगवान् के मन्दिर तक जाने, सिर को भगवान् को प्रणाम करने तथा अपनी इच्छाओं को भगवान् की इच्छा पूरी करने में लगा दिया। ये सारे दिव्यकार्य शुद्ध भक्त के सर्वथा अनुरूप हैं।”

निर्विशेषवादियों के लिए यह दिव्य व्यवस्था अनिर्वचनीय हो सकती है, किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के लिए यह अत्यन्त सुगम एवं व्यावहारिक है, जैसा कि महाराज अम्बरीष की उपरिवर्णित जीवनचर्या से स्पष्ट हो जाता है। जब तक निरन्तर स्मरण द्वारा भगवान् के चरणकमलों में मन को स्थिर नहीं कर लिया जाता, तब तक ऐसे दिव्यकार्य व्यावहारिक नहीं बन पाते। अतः भगवान् की भक्ति में इन विहित कार्यों को अर्चन् कहते हैं जिसका अर्थ है—समस्त इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना। इन्द्रियों तथा मन को कुछ न कुछ कार्य चाहिए। कोरा निग्रह व्यावहारिक नहीं है। अतः सामान्य लोगों के लिए—विशेषकर जो लोग संन्यास आश्रम में नहीं हैं—ऊपर वर्णित इन्द्रियों तथा मन का दिव्यकार्य ही दिव्य सफलता की सही विधि है, जिसे *भगवद्गीता* में युक्त कहा गया है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; दीपः—दीपक; निवात-स्थः—वायुरहित स्थान में; न—नहीं; नेङ्गते—हिलता डुलता; सा—यह; उपमा—तुलना; स्मृता—मानी जाती है; योगिनः—योगी की; यत-चित्तस्य—जिसका मन वश में है; युञ्जतः—निरन्तर संलग्न; योगम्—ध्यान में; आत्मनः—अध्यात्म में।

जिस प्रकार वायुरहित स्थान में दीपक हिलता-डुलता नहीं, उसी तरह जिस योगी का मन वश में होता है, वह आत्मतत्त्व के ध्यान में सदैव स्थिर रहता है।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित व्यक्ति अपने आराध्य देव के चिन्तन में उसी प्रकार अविचलित रहता है जिस प्रकार वायुरहित स्थान में एक दीपक रहता है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
 यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥
 सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
 वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥
 यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
 यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥
 तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जिस अवस्था में; उपरमते—दिव्यसुख की अनुभूति के कारण बन्द हो जाती है; चित्तम्—मानसिक गतिविधियाँ; निरुद्धम्—पदार्थ से निवृत्त; योग-सेवया—योग के अभ्यास द्वारा; यत्र—जिसमें; च—भी; एव—निश्चय ही; आत्मना—विशुद्ध मन से; आत्मानम्—आत्मा की; पश्यन्—स्थिति का अनुभव करते हुए; आत्मनि—अपने में; तुष्यति—तुष्ट हो जाता है; सुखम्—सुख; आत्यन्तिकम्—परम; यत्—जो; तत्—वह; बुद्धि—बुद्धि से; ग्राह्यम्—ग्रहणीय; अतीन्द्रियम्—दिव्य; वेत्ति—जानता है; यत्र—जिसमें; न—कभी नहीं; च—भी; एव—निश्चय ही; अयम्—यह; स्थितः—स्थित; चलति—हटता है; तत्त्वतः—सत्य से; यम्—जिसको; लब्ध्वा—प्राप्त करके; च—तथा; अपरम्—अन्य कोई; लाभम्—लाभ; मन्यते—मानता है; न—कभी नहीं; अधिकम्—अधिक; ततः—उससे; यस्मिन्—जिसमें; स्थितः—स्थित होकर; न—कभी नहीं; दुःखेन—दुःखों से; गुरुणा अपि—अत्यन्त कठिन होने पर भी; विचाल्यते—चलायमान होता है; तम्—उसको; विद्यात्—जानो; दुःख-संयोग—भौतिक संसर्ग से उत्पन्न दुःख; वियोगम्—उन्मूलन को; योग-संज्ञितम्—योग में समाधि कहलाने वाला ।

सिद्धि की अवस्था में, जिसे समाधि कहते हैं, मनुष्य का मन योगाभ्यास के द्वारा भौतिक मानसिक क्रियाओं से पूर्णतया संयमित हो जाता है। इस सिद्धि की विशेषता यह है कि मनुष्य शुद्ध मन से अपने को देख सकता है और अपने आपमें आनन्द उठा सकता है। उस आनन्दमयी स्थिति में वह दिव्य इन्द्रियों द्वारा असीम दिव्यसुख में स्थित रहता है। इस प्रकार स्थापित मनुष्य कभी सत्य से विपथ नहीं होता और इस सुख की प्राप्ति हो जाने पर वह इससे बड़ा कोई दूसरा लाभ

नहीं मानता। ऐसी स्थिति को पाकर मनुष्य बड़ी से बड़ी कठिनाई में भी विचलित नहीं होता। यह निस्सन्देह भौतिक संसर्ग से उत्पन्न होने वाले समस्त दुखों से वास्तविक मुक्ति है।

तात्पर्य

योगाभ्यास से मनुष्य भौतिक धारणाओं से क्रमशः विरक्त होता जाता है। यह योग का प्रमुख लक्षण है। इसके बाद वह समाधि में स्थित हो जाता है जिसका अर्थ यह होता है कि दिव्य मन तथा बुद्धि के द्वारा योगी अपने आपको परमात्मा समझने का भ्रम न करके परमात्मा की अनुभूति करता है। योगाभ्यास बहुत कुछ पतञ्जलि की पद्धति पर आधारित है। कुछ अप्रामाणिक भाष्यकार जीवात्मा तथा परमात्मा में अभेद स्थापित करने का प्रयास करते हैं और अद्वैतवादी इसे ही मुक्ति मानते हैं, किन्तु वे पतञ्जलि की योगपद्धति के वास्तविक प्रयोजन को नहीं जानते। पतञ्जलि पद्धति में दिव्य आनन्द को स्वीकार किया गया है, किन्तु अद्वैतवादी इस दिव्य आनन्द को स्वीकार नहीं करते क्योंकि उन्हें भ्रम है कि इससे कहीं उनके अद्वैतवाद में बाधा न उपस्थित हो जाय। अद्वैतवादी ज्ञान तथा ज्ञाता के द्वैत को नहीं मानते, किन्तु इस श्लोक में दिव्य इन्द्रियों द्वारा अनुभूत दिव्य आनन्द को स्वीकार किया गया है। इसकी पुष्टि योगपद्धति के विख्यात व्याख्याता पतञ्जलि मुनि ने भी की है। योगसूत्र में (३.३४) महर्षि कहते हैं—*पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।*

यह *चितिशक्ति* या अन्तरंगा शक्ति दिव्य है। *पुरुषार्थ* का तात्पर्य धर्म, अर्थ, काम तथा अन्त में परब्रह्म से तादात्म्य या मोक्ष है। अद्वैतवादी परब्रह्म से इस तादात्म्य को *कैवल्यम्* कहते हैं। किन्तु पतञ्जलि के अनुसार *कैवल्यम्* वह अन्तरंगा या दिव्य शक्ति है जिससे जीवात्मा अपनी स्वाभाविक स्थिति से अवगत होता है। भगवान् चैतन्य के शब्दों में यह अवस्था *चेतोदर्पणमार्जनम्* अर्थात् मन रूपी मलिन दर्पण का मार्जन (शुद्धि) है। यह मार्जन वास्तव में मुक्ति या *भवमहादावाग्निनिर्वापणम्* है। प्रारम्भिक निर्वाण सिद्धान्त भी इस नियम के समान है। *भागवत* में

(२.१०.६) इसे *स्वरूपेण व्यवस्थितिः* कहा गया है। *भगवद्गीता* के इस श्लोक में भी इसी की पुष्टि हुई है।

निर्वाण के बाद आध्यात्मिक कार्यकलापों की या भगवद्भक्ति की अभिव्यक्ति होती है जिसे कृष्णभावनामृत कहते हैं। *भागवत* के शब्दों में—*स्वरूपेण व्यवस्थितिः*—जीवात्मा का वास्तविक जीवन यही है। भौतिक दूषण से आध्यात्मिक जीवन के कल्मष युक्त होने की अवस्था माया है। इस भौतिक दूषण से मुक्ति का अभिप्राय जीवात्मा की मूल दिव्य स्थिति का विनाश नहीं है। पतञ्जलि भी इसकी पुष्टि इन शब्दों से करते हैं—*कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति*—यह *चितिशक्ति* या दिव्य आनन्द ही वास्तविक जीवन है। इसका अनुमोदन *वेदान्तसूत्र* में (१.१.१२) इस प्रकार हुआ है—*आनन्दमयोऽध्यासात्*। यह चितिशक्ति ही योग का परमलक्ष्य है और भक्तियोग द्वारा इसे सरलता से प्राप्त किया जाता है। भक्तियोग का विस्तृत विवरण सातवें अध्याय में किया जायेगा।

इस अध्याय में वर्णित योगपद्धति के अनुसार समाधियाँ दो प्रकार की होती हैं—*सम्प्रज्ञात* तथा *असम्प्रज्ञात समाधियाँ*। जब मनुष्य विभिन्न दार्शनिक शोधों के द्वारा दिव्य स्थिति को प्राप्त होता है तो यह कहा जाता है कि उसे सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त हुई है। असम्प्रज्ञात समाधि में संसारी आनन्द से कोई सम्बन्ध नहीं रहता क्योंकि इसमें मनुष्य इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले सभी प्रकार के सुखों से परे हो जाता है। एक बार इस दिव्य स्थिति को प्राप्त कर लेने पर योगी कभी उससे डिगता नहीं। जब तक योगी इस स्थिति को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक वह असफल रहता है। आजकल के तथाकथित योगाभ्यास में विभिन्न इन्द्रियसुख सम्मिलित हैं, जो योग के सर्वथा विपरीत है। योगी होकर यदि कोई मैथुन तथा मादकद्रव्य सेवन में अनुरक्त होता है तो यह उपहासजनक है। यहाँ तक कि जो योगी योग की सिद्धियों के प्रति आकृष्ट रहते हैं वे भी योग में आरूढ नहीं कहे जा सकते। यदि योगीजन योग की आनुषंगिक वस्तुओं के प्रति आकृष्ट हैं तो उन्हें सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुआ नहीं कहा जा सकता, जैसा कि इस श्लोक में कहा गया है। अतः जो व्यक्ति आसनों के प्रदर्शन

या सिद्धियों के चक्र में रहते हैं उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि इस प्रकार से योग का मुख्य उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है।

इस युग में योग की सर्वोत्तम पद्धति कृष्णभावनामृत है जो निराशा उत्पन्न करने वाली नहीं है। एक कृष्णभावनाभावित व्यक्ति अपने धर्म में इतना सुखी रहता है कि उसे किसी अन्य सुख की आकांक्षा नहीं रह जाती। इस दम्भ-प्रधान युग में हठयोग, ध्यानयोग तथा ज्ञानयोग का अभ्यास करते हुए अनेक अवरोध आ सकते हैं, किन्तु कर्मयोग या भक्तियोग के पालन में ऐसी समस्या सामने नहीं आती।

जब तक यह शरीर रहता है तब तक शरीर की आवश्यकताओं—आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन—को पूरा करना होता है। किन्तु जो व्यक्ति शुद्ध भक्तियोग में अथवा कृष्णभावनामृत में स्थित होता है वह शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति करते समय इन्द्रियों को उत्तेजित नहीं करता। प्रत्युत वह घाटे के सौदे का सर्वोत्तम उपयोग करके, जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं को स्वीकार करता है और कृष्णभावनामृत में दिव्यसुख भोगता है। वह दुर्घटनाओं, रोगों, अभावों और यहाँ तक कि अपने प्रियजनों की मृत्यु जैसी आपात्कालीन घटनाओं के प्रति भी निरपेक्ष रहता है, किन्तु कृष्णभावनामृत या भक्तियोग सम्बन्धी अपने कर्मों को पूरा करने में वह सदैव सचेष्ट रहता है। दुर्घटनाएँ उसे कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं कर पातीं। जैसा कि *भगवद्गीता* में (२.१४) कहा गया है—*आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत*। वह इन प्रासंगिक घटनाओं को सहता है क्योंकि वह यह भलीभाँति जानता है कि ये घटनाएँ ऐसे ही आती-जाती रहती हैं और इनसे उसके कर्तव्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार वह योगाभ्यास में परम सिद्धि प्राप्त करता है।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।

सङ्कल्पप्रभवान्कामास्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

सः—उस; निश्चयेन—दृढ़ विश्वास के साथ; योक्तव्यः—अवश्य अभ्यास करे; योगः—योगपद्धति; अनिर्विण्ण-चेतसा—विचलित हुए बिना; सङ्कल्प—मनोधर्म से;

प्रभवान्—उत्पन्न; कामान्—भौतिक इच्छाओं को; त्यक्त्वा—त्यागकर; सर्वान्—समस्त; अशेषतः—पूर्णतया; मनसा—मन से; एव—निश्चय ही; इन्द्रिय-ग्रामम्—इन्द्रियों के समूह को; विनियम्य—वश में करके; समन्ततः—सभी ओर से।

मनुष्य को चाहिए कि संकल्प तथा श्रद्धा के साथ योगाभ्यास में लगे और पथ से विचलित न हो। उसे चाहिए कि मनोधर्म से उत्पन्न समस्त इच्छाओं को निरपवाद रूप से त्याग दे और इस प्रकार मन के द्वारा सभी ओर से इन्द्रियों को वश में करे।

तात्पर्य

योगाभ्यास करने वाले को दृढसंकल्प होना चाहिए और उसे चाहिए कि बिना विचलित हुए धैर्यपूर्वक अभ्यास करे। अन्त में उसकी सफलता निश्चित है—उसे यह सोच कर बड़े ही धैर्य से इस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए और यदि सफलता मिलने में विलम्ब हो रहा हो तो निरुत्साहित नहीं होना चाहिए। ऐसे दृढ अभ्यासी की सफलता सुनिश्चित है। भक्तियोग के सम्बन्ध में रूप गोस्वामी का कथन है—

उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात् तत्तत्कर्म प्रवर्तनात् ।

संगत्यागात्सतो वृत्तेः षड्भिर्भक्तिः प्रसिद्ध्यति ॥

“मनुष्य पूर्ण हार्दिक उत्साह, धैर्य तथा संकल्प के साथ भक्तियोग का पूर्णरूपेण पालन भक्त के साथ रहकर निर्धारित कर्मों के करने तथा सत्कार्यों में पूर्णतया लगे रहने से कर सकता है।” (उपदेशामृत — ३) जहाँ तक संकल्प की बात है, मनुष्य को चाहिए कि उस गौरैया का आदर्श ग्रहण करे जिसके सारे अंडे समुद्र की लहरों में मग्न हो गये थे। कहते हैं कि एक गौरैया ने समुद्र तट पर अंडे दिये, किन्तु विशाल समुद्र उन्हें अपनी लहरों में समेट ले गया। इस पर गौरैया अत्यन्त क्षुब्ध हुई और उसने समुद्र से अंडे लौटा देने के लिए कहा। किन्तु समुद्र ने उसकी प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया। अतः उसने समुद्र को सुखा डालने की ठान ली। वह अपनी नन्हीं सी चोंच से पानी उलीचने लगी। सभी उसके इस असम्भव संकल्प का उपहास करने लगे। उसके इस कार्य की सर्वत्र चर्चा चलने लगी तो अन्त में भगवान् विष्णु के विराट वाहन पक्षिराज गरुड़ ने यह बात

सुनी। उन्हें अपनी इस नन्हीं पक्षी बहिन पर दया आई और वे गौरैया से मिलने आये। गरुड़ उस नन्हीं गौरैया के निश्चय से बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसकी सहायता करने का वचन दिया। गरुड़ ने तुरन्त समुद्र से कहा कि वह उसके अंडे लौटा दे, नहीं तो उसे स्वयं आगे आना पड़ेगा। इससे समुद्र भयभीत हुआ और उसने अंडे लौटा दिये। वह गौरैया गरुड़ की कृपा से सुखी हो गई।

इसी प्रकार योग, विशेषतया कृष्णभावनामृत में भक्तियोग, अत्यन्त दुष्कर प्रतीत हो सकता है, किन्तु जो कोई संकल्प के साथ नियमों का पालन करता है, भगवान् निश्चित रूप से उसकी सहायता करते हैं, क्योंकि जो अपनी सहायता आप करते हैं भगवान् उनकी सहायता करते हैं।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

शनैः—धीरे-धीरे; शनैः—एकएक करके, क्रम से; उपरमेत्—निवृत्त रहे; बुद्ध्या—बुद्धि से; धृति-गृहीतया—विश्वासपूर्वक; आत्म-संस्थम्—समाधि में स्थित; मनः—मन; कृत्वा—करके; न—नहीं; किञ्चित्—अन्य कुछ; अपि—भी; चिन्तयेत्—सोचे।

धीरे-धीरे, क्रमशः पूर्ण विश्वासपूर्वक बुद्धि के द्वारा समाधि में स्थित होना चाहिए और इस प्रकार मन को आत्मा में ही स्थित करना चाहिए तथा अन्य कुछ भी नहीं सोचना चाहिए।

तात्पर्य

समुचित विश्वास तथा बुद्धि के द्वारा मनुष्य को धीरे-धीरे सारे इन्द्रियकर्म करने बन्द कर देना चाहिए। यह प्रत्याहार कहलाता है। मन को विश्वास, ध्यान तथा इन्द्रिय-निवृत्ति द्वारा वश में करते हुए समाधि में स्थिर करना चाहिए। उस समय देहात्मबुद्धि में अनुरक्त होने की कोई सम्भावना नहीं रह जाती। दूसरे शब्दों में, जब तक इस शरीर का अस्तित्व है तब तक मनुष्य पदार्थ में लगा रहता है, किन्तु उसे इन्द्रियतृप्ति के विषय में नहीं सोचना चाहिए। उसे परमात्मा के आनन्द के अतिरिक्त किसी अन्य आनन्द

का चिन्तन नहीं करना चाहिए। कृष्णभावनामृत का अभ्यास करने से यह अवस्था सहज ही प्राप्त की जा सकती है।

यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यतः यतः—जहाँ-जहाँ भी; निश्चलति—विचलित होता है; मनः—मन; चञ्चलम्—चलायमान; अस्थिरम्—अस्थिर; ततः ततः—वहाँ-वहाँ से; नियम्य—वश में करके; एतत्—इस; आत्मनि—अपने; एव—निश्चय ही; वशम्—वश में; नयेत्—ले आए।

मन अपनी चंचलता तथा अस्थिरता के कारण जहाँ कहीं भी विचरण करता हो, मनुष्य को चाहिए कि उसे वहाँ से खींचे और अपने वश में लाए।

तात्पर्य

मन स्वभाव से चंचल और अस्थिर है। किन्तु स्वरूपसिद्ध योगी को मन को वश में लाना होता है, उस पर मन का अधिकार नहीं होना चाहिए। जो मन को (तथा इन्द्रियों को भी) वश में रखता है, वह गोस्वामी या स्वामी कहलाता है और जो मन के वशीभूत होता है वह गोदास अर्थात् इन्द्रियों का सेवक कहलाता है। गोस्वामी इन्द्रियसुख के मानक से भिन्न होता है। दिव्य इन्द्रियसुख वह है जिसमें इन्द्रियाँ हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी भगवान् कृष्ण की सेवा में लगी रहती हैं। शुद्ध इन्द्रियों के द्वारा कृष्ण की सेवा ही कृष्णचेतना या कृष्णभावनामृत कहलाती है। इन्द्रियों को पूर्णवश में लाने की यही विधि है। इससे भी बढ़कर बात यह है कि यह योगाभ्यास की परम सिद्धि भी है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

प्रशान्त—कृष्ण के चरणकमलों में स्थित, शान्त; मनसम्—जिसका मन; हि—निश्चय ही; एनम्—यह; योगिनम्—योगी; सुखम्—सुख; उत्तमम्—सर्वोच्च; उपैति—प्राप्त

करता है; शान्त-रजसम्—जिसकी कामेच्छा शान्त हो चुकी है; ब्रह्म-भूतम्—परमात्मा के साथ अपनी पहचान द्वारा मुक्ति; अकल्मषम्—समस्त पूर्व पापकर्मों से मुक्त।

जिस योगी का मन मुझ में स्थिर रहता है, वह निश्चय ही दिव्यसुख की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करता है। वह रजोगुण से परे हो जाता है, वह परमात्मा के साथ अपनी गुणात्मक एकता को समझता है और इस प्रकार अपने समस्त विगत कर्मों के फल से निवृत्त हो जाता है।

तात्पर्य

ब्रह्मभूत वह अवस्था है जिसमें भौतिक कल्मष से मुक्त होकर भगवान् की दिव्यसेवा में स्थित हुआ जाता है। *मद्भक्तिं लभते पराम्* (*भगवद्गीता १८.५४*)। जब तक मनुष्य का मन भगवान् के चरणकमलों में स्थिर नहीं हो जाता तब तक कोई ब्रह्मरूप में नहीं रह सकता। *स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः*। भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर प्रवृत्त रहना या कृष्णभावनामृत में रहना वस्तुतः रजोगुण तथा भौतिक कल्मष से मुक्त होना है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

युञ्जन्—योगाभ्यास में प्रवृत्त होना; एवम्—इस प्रकार; सदा—सदैव; आत्मानम्—स्व, आत्मा को; योगी—योगी जो परमात्मा के सम्पर्क में रहता है; विगत—मुक्त; कल्मषः—सारे भौतिक दूषण से; सुखेन—दिव्यसुख से; ब्रह्म-संस्पर्शम्—ब्रह्म के सान्निध्य में रहकर; अत्यन्तम्—सर्वोच्च; सुखम्—सुख को; अश्नुते—प्राप्त करता है।

इस प्रकार योगाभ्यास में निरन्तर लगा रहकर आत्मसंयमी योगी समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है और भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में परमसुख प्राप्त करता है।

तात्पर्य

आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है—भगवान् के सम्बन्ध में अपनी स्वाभाविक स्थिति को जानना। जीव (आत्मा) भगवान् का अंश है और

उसकी स्थिति भगवान् की दिव्यसेवा करते रहना है। ब्रह्म के साथ यह दिव्य सान्निध्य ही ब्रह्म-संस्पर्श कहलाता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सर्व-भूत-स्थम्—सभी जीवों में स्थित; आत्मानम्—परमात्मा को; सर्व—सभी; भूतानि—जीवों को; च—भी; आत्मनि—आत्मा में; ईक्षते—देखता है; योग-युक्त-आत्मा—कृष्णचेतना में लगा व्यक्ति; सर्वत्र—सभी जगह; सम-दर्शनः—समभाव से देखने वाला।

वास्तविक योगी समस्त जीवों में मुझको तथा मुझमें समस्त जीवों को देखता है। निस्सन्देह स्वरूपसिद्ध व्यक्ति मुझ परमेश्वर को सर्वत्र देखता है।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित योगी पूर्ण द्रष्टा होता है क्योंकि वह परब्रह्म कृष्ण को हर प्राणी के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित देखता है। ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। अपने परमात्मा रूप में भगवान् एक कुत्ते तथा एक ब्राह्मण दोनों के हृदय में स्थित होते हैं। पूर्णयोगी जानता है कि भगवान् नित्यरूप में दिव्य हैं और कुत्ते या ब्राह्मण में स्थित होने से भी भौतिक रूप से प्रभावित नहीं होते। यही भगवान् की परम निरपेक्षता है। यद्यपि जीवात्मा भी एक-एक हृदय में विद्यमान है, किन्तु वह एकसाथ समस्त हृदयों में (सर्वव्यापी) नहीं है। आत्मा तथा परमात्मा का यही अन्तर है। जो वास्तविक रूप से योगाभ्यास करने वाला नहीं है, वह इसे स्पष्ट रूप में नहीं देखता। एक कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कृष्ण को आस्तिक तथा नास्तिक दोनों में देख सकता है। स्मृति में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—*आततत्वाच्च मातृत्वाच्च आत्मा हि परमो हरिः*। भगवान् सभी प्राणियों का स्रोत होने के कारण माता और पालनकर्ता के समान हैं। जिस प्रकार माता अपने समस्त पुत्रों के प्रति समभाव रखती है, उसी प्रकार परम पिता (या माता) भी रखता है। फलस्वरूप परमात्मा प्रत्येक जीव में निवास करता है।

बाह्य रूप से भी प्रत्येक जीव भगवान् की शक्ति (भगवद्शक्ति) में स्थित है। जैसा कि सातवें अध्याय में बताया जाएगा, भगवान् की दो मुख्य शक्तियाँ हैं—परा तथा अपरा। जीव पराशक्ति का अंश होते हुए भी अपराशक्ति से बद्ध है। जीव सदा ही भगवान् की शक्ति में स्थित है। प्रत्येक जीव किसी न किसी प्रकार भगवान् में ही स्थित रहता है। योगी समदर्शी है क्योंकि वह देखता है कि सारे जीव अपने-अपने कर्मफल के अनुसार विभिन्न स्थितियों में रहकर भगवान् के दास होते हैं। अपराशक्ति में जीव भौतिक इन्द्रियों का दास रहता है जबकि पराशक्ति में वह साक्षात् परमेश्वर का दास रहता है। इस प्रकार प्रत्येक अवस्था में जीव ईश्वर का दास है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति में यह समदृष्टि पूर्ण होती है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यः—जो; माम्—मुझको; पश्यति—देखता है; सर्वत्र—सभी जगह; सर्वम्—प्रत्येक वस्तु को; च—तथा; मयि—मुझमें; पश्यति—देखता है; तस्य—उसके लिए; अहम्—मैं; न—नहीं; प्रणश्यामि—अदृश्य होता हूँ; सः—वह; च—भी; मे—मेरे लिए; न—नहीं; प्रणश्यति—अदृश्य होता है।

जो मुझे सर्वत्र देखता है और सब कुछ मुझमें देखता है उसके लिए न तो मैं कभी अदृश्य होता हूँ और न वह मेरे लिए अदृश्य होता है।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित व्यक्ति भगवान् कृष्ण को सर्वत्र देखता है और सारी वस्तुओं को कृष्ण में देखता है। ऐसा व्यक्ति भले ही प्रकृति की पृथक्-पृथक् अभिव्यक्तियों को देखता प्रतीत हो, किन्तु वह प्रत्येक दशा में इस कृष्णभावनामृत से अवगत रहता है कि प्रत्येक वस्तु कृष्ण की ही शक्ति की अभिव्यक्ति है। कृष्णभावनामृत का मूल सिद्धान्त ही यह है कि कृष्ण के बिना कोई अस्तित्व नहीं है और कृष्ण ही सर्वेश्वर हैं। कृष्णभावनामृत कृष्ण-प्रेम का विकास है—ऐसी स्थिति जो भौतिक मोक्ष से भी परे है। आत्मसाक्षात्कार के उपर कृष्णभावनामृत की इस अवस्था में भक्त कृष्ण से

इस अर्थ में एकरूप हो जाता है कि उसके लिए कृष्ण ही सब कुछ हो जाते हैं और भक्त प्रेममय कृष्ण से पूरित हो उठता है। तब भगवान् तथा भक्त के बीच अन्तरंग सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। उस अवस्था में जीव को विनष्ट नहीं किया जा सकता और न भगवान् भक्त की दृष्टि से ओझल होते हैं। कृष्ण में तादात्म्य होना आध्यात्मिक लय (आत्मविनाश) है। भक्त कभी भी ऐसी विपदा नहीं उठाता। *ब्रह्मसंहिता* (५.३८) में कहा गया है—

प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्तिविलोचनेन

सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति ।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

“मैं आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जिनका दर्शन भक्तगण प्रेमरूपी अंजन लगे नेत्रों से करते हैं। वे भक्त के हृदय में स्थित श्यामसुन्दर रूप में देखे जाते हैं।”

इस अवस्था में न तो भगवान् कृष्ण अपने भक्त की दृष्टि से ओझल होते हैं और न भक्त ही उनकी दृष्टि से ओझल हो पाते हैं। यही बात योगी के लिए भी सत्य है क्योंकि वह अपने हृदय के भीतर परमात्मा रूप में भगवान् का दर्शन करता रहता है। ऐसा योगी शुद्ध भक्त बन जाता है और अपने अन्दर भगवान् को देखे बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

सर्व-भूत-स्थितम्—प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित; यः—जो; माम्—मुझको;
भजति—भक्तिपूर्वक सेवा करता है; एकत्वम्—तादात्म्य में; आस्थितः—स्थित;
सर्वथा—सभी प्रकार से; वर्त-मानः—उपस्थित होकर; अपि—भी; सः—वह;
योगी—योगी; मयि—मुझमें; वर्तते—रहता है।

जो योगी मुझे तथा परमात्मा को अभिन्न जानते हुए परमात्मा की भक्तिपूर्वक सेवा करता है, वह हर प्रकार से मुझमें सदैव स्थित रहता है।

तात्पर्य

जो योगी परमात्मा का ध्यान करता है, वह अपने अन्तःकरण में चतुर्भुज विष्णु का दर्शन कृष्ण के पूर्णरूप में शंख, चक्र, गदा तथा कमलपुष्प धारण किये करता है। योगी को यह जानना चाहिए कि विष्णु कृष्ण से भिन्न नहीं हैं। परमात्मा रूप में कृष्ण जन-जन के हृदय में स्थित हैं। यही नहीं, असंख्य जीवों के हृदयों में स्थित असंख्य परमात्माओं में कोई अन्तर नहीं है। न ही कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर व्यस्त व्यक्ति तथा परमात्मा के ध्यान में निरत एक पूर्णयोगी के बीच कोई अन्तर है। कृष्णभावनामृत में योगी सदैव कृष्ण में ही स्थित रहता है भले ही भौतिक जगत् में वह विभिन्न कार्यों में व्यस्त क्यों न हो। इसकी पुष्टि श्रील रूप गोस्वामी कृत *भक्तिरसामृत सिन्धु* में (१.२.१८७) हुई है—
निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते। कृष्णभावनामृत में रत रहने वाला भगवद्भक्त स्वतः मुक्त हो जाता है। *नारद पञ्चरात्र* में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—

दिकालाद्यनवच्छिन्ने कृष्णे चेतो विधाय च।

तन्मयो भवति क्षिप्रं जीवो ब्रह्मणि योजयेत् ॥

“देश-काल से अतीत तथा सर्वव्यापी श्रीकृष्ण के दिव्यरूप में ध्यान एकाग्र करने से मनुष्य कृष्ण के चिन्तन में तन्मय हो जाता है और तब उनके दिव्य सान्निध्य की सुखी अवस्था को प्राप्त होता है।”

योगाभ्यास में समाधि की सर्वोच्च अवस्था कृष्णभावनामृत है। केवल इस ज्ञान से कि कृष्ण प्रत्येक जन के हृदय में परमात्मा रूप में उपस्थित हैं योगी निर्दोष हो जाता है। वेदों से (*गोपालतापनी उपनिषद्* १.२१) भगवान् की इस अचिन्त्य शक्ति की पुष्टि इस प्रकार होती है—*एकोऽपि सन्बहुधा योऽवभाति*—“यद्यपि भगवान् एक है, किन्तु वह जितने सारे हृदय हैं उनमें उपस्थित रहता है।” इसी प्रकार स्मृति शास्त्र का कथन है—

एक एव परो विष्णुः सर्वव्यापी न संशयः।

ऐश्वर्याद् रूपमेकं च सूर्यवत् बहुधेयते ॥

“विष्णु एक हैं फिर भी वे सर्वव्यापी हैं। एक रूप होते हुए भी वे अपनी अचिन्त्य शक्ति से सर्वत्र उपस्थित रहते हैं, जिस प्रकार सूर्य एक ही समय अनेक स्थानों में दिखता है।”

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

आत्म—अपनी; औपम्येन—तुलना से; सर्वत्र—सभी जगह; समम्—समान रूप से; पश्यति—देखता है; यः—जो; अर्जुन—हे अर्जुन; सुखम्—सुख; वा—अथवा; यदि—यदि; वा—अथवा; दुःखम्—दुःख; सः—वह; योगी—योगी; परमः—परम पूर्ण; मतः—माना जाता है ।

हे अर्जुन! वह पूर्णयोगी है जो अपनी तुलना से समस्त प्राणियों की उनके सुखों तथा दुखों में वास्तविक समानता का दर्शन करता है ।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित व्यक्ति पूर्ण योगी होता है। वह अपने व्यक्तिगत अनुभव से प्रत्येक प्राणी के सुख तथा दुःख से अवगत होता है। जीव के दुःख का कारण ईश्वर से अपने सम्बन्ध का विस्मरण होना है। सुख का कारण कृष्ण को मनुष्यों के समस्त कार्यों का परम भोक्ता, समस्त भूमि तथा लोकों का स्वामी एवं समस्त जीवों का परम हितैषी मित्र समझना है। पूर्ण योगी यह जानता है कि भौतिक प्रकृति के गुणों से प्रभावित बद्धजीव कृष्ण से अपने सम्बन्ध को भूल जाने के कारण तीन प्रकार के भौतिक तापों (दुःखों) को भोगता है; और चूँकि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति सुखी होता है इसलिए वह कृष्णज्ञान को सर्वत्र वितरित कर देना चाहता है। चूँकि पूर्णयोगी कृष्णभावनाभावित बनने के महत्त्व को घोषित करता चलता है, अतः वह विश्व का सर्वश्रेष्ठ उपकारी एवं भगवान् का प्रियतम सेवक है। *न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः (भगवद्गीता १८.६९)*। दूसरे शब्दों में, भगवद्भक्त सदैव जीवों के कल्याण को देखता है और इस तरह वह प्रत्येक प्राणी का सखा होता है। वह सर्वश्रेष्ठ योगी है क्योंकि वह स्वान्तःसुखाय सिद्धि नहीं चाहता, अपितु अन्यो के लिए भी चाहता है। वह अपने मित्र जीवों से द्वेष नहीं करता। यही है वह अन्तर जो एक भगवद्भक्त तथा आत्मोन्नति में ही रुचि रखने वाले योगी में होता है। जो योगी पूर्णरूप से ध्यान धरने के लिए एकान्त स्थान में चला जाता है, वह उतना पूर्ण नहीं

होता जितना कि वह भक्त जो प्रत्येक व्यक्ति को कृष्णभावनाभावित बनाने का प्रयास करता रहता है।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।

एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; यः अयम्—यह पद्धति; योगः—योग; त्वया—तुम्हारे द्वारा; प्रोक्तः—कही गई; साम्येन—सामान्यतया; मधु-सूदन—हे मधु असुर के संहर्ता; एतस्य—इसकी; अहम्—मैं; न—नहीं; पश्यामि—देखता हूँ; चञ्चलत्वात्—चंचल होने के कारण; स्थितिम्—स्थिति को; स्थिराम्—स्थायी।

अर्जुन ने कहा—हे मधुसूदन! आपने जिस योगपद्धति का संक्षेप में वर्णन किया है, वह मेरे लिए अव्यावहारिक तथा असहनीय है, क्योंकि मन चंचल तथा अस्थिर है।

तात्पर्य

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के लिए शुचौ देशे से लेकर योगी परमो मतः तक जिस योगपद्धति का वर्णन किया है उसे अर्जुन अपनी असमर्थता के कारण अस्वीकार कर रहा है। इस कलियुग में सामान्य व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह अपना घर छोड़कर किसी पर्वत या जंगल के एकान्त स्थान में जाकर योगाभ्यास करे। आधुनिक युग की विशेषता है—अल्पकालिक जीवन के लिए घोर संघर्ष। लोग सरल, व्यावहारिक साधनों से भी आत्म-साक्षात्कार के लिए उत्सुक या गम्भीर नहीं हैं तो फिर इस कठिन योगपद्धति के विषय में क्या कहा जा सकता है जो जीवन शैली, आसन विधि, स्थान के चयन तथा भौतिक व्यस्तताओं से विरक्ति का नियमन करती है। व्यावहारिक व्यक्ति के रूप में अर्जुन ने सोचा कि इस योगपद्धति का पालन असम्भव है, भले ही वह कई बातों में इस पद्धति पर खरा उतरता था। वह राजवंशी था और उसमें अनेक सद्गुण थे, वह महान योद्धा था, वह दीर्घायु था और सबसे बड़ी बात तो यह कि वह भगवान् श्रीकृष्ण का घनिष्ठ मित्र था। पाँच हजार वर्ष पूर्व अर्जुन को हमसे अधिक सुविधाएँ प्राप्त थीं तो भी उसने इस योगपद्धति को स्वीकार करने से मना

कर दिया। वास्तव में इतिहास में कोई ऐसा प्रलेख प्राप्त नहीं है जिससे यह ज्ञात हो सके कि उसने कभी योगाभ्यास किया हो। अतः इस पद्धति को इस कलियुग के लिए सर्वथा दुष्कर समझना चाहिए। हाँ, कतिपय विरले व्यक्तियों के लिए यह पद्धति सुगम हो सकती है, किन्तु सामान्यजनों के लिए यह असम्भव प्रस्ताव है। यदि पाँच हजार वर्ष पूर्व ऐसा था तो आधुनिक समय के लिए क्या कहना? जो लोग विभिन्न तथाकथित स्कूलों तथा समितियों के द्वारा इस योगपद्धति का अनुकरण कर रहे हैं, भले ही सन्तोषजनक प्रतीत हो, किन्तु वे सचमुच ही अपना समय गँवा रहे हैं। वे अपने अभीष्ट लक्ष्य के प्रति सर्वथा अज्ञानी हैं।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

चञ्चलम्—चंचल; हि—निश्चय ही; मनः—मन; कृष्ण—हे कृष्ण; प्रमाथि—विचलित करने वाला, क्षुब्ध करने वाला; बल-वत्—बलवान्; दृढम्—दुराग्रही, हठीला; तस्य—उसका; अहम्—मैं; निग्रहम्—वश में करना; मन्ये—सोचता हूँ; वायोः—वायु की; इव—तरह; सु-दुष्करम्—कठिन।

हे कृष्ण! चूँकि मन चंचल (अस्थिर), उच्छृंखल, हठीला तथा अत्यन्त बलवान है, अतः मुझे इसे वश में करना वायु को वश में करने से भी अधिक कठिन लगता है।

तात्पर्य

मन इतना बलवान् तथा दुराग्रही है कि कभी-कभी यह बुद्धि का उल्लंघन कर देता है, यद्यपि उसे बुद्धि के अधीन माना जाता है। इस व्यवहार-जगत् में जहाँ मनुष्य को अनेक विरोधी तत्त्वों से संघर्ष करना होता है उसके लिए मन को वश में कर पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। कृत्रिम रूप में मनुष्य अपने मित्र तथा शत्रु दोनों के प्रति मानसिक संतुलन स्थापित कर सकता है, किन्तु अंतिम रूप में कोई भी संसारी पुरुष ऐसा नहीं कर पाता, क्योंकि ऐसा कर पाना वेगवान वायु को वश में करने से भी कठिन है। वैदिक साहित्य (कठोपनिषद् १.३.३-४) में कहा गया है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च

बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।
 इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्
 आत्मोन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

“प्रत्येक व्यक्ति इस भौतिक शरीर रूपी रथ पर आरूढ है और बुद्धि इसका सारथी है। मन लगाम है तथा इन्द्रियाँ घोड़े हैं। इस प्रकार मन तथा इन्द्रियों की संगति से यह आत्मा सुख या दुःख का भोक्ता है। ऐसा बड़े-बड़े चिन्तकों का कहना है।” यद्यपि बुद्धि को मन का नियन्त्रण करना चाहिए, किन्तु मन इतना प्रबल तथा हठी है कि इसे अपनी बुद्धि से भी जीत पाना कठिन हो जाता है जिस प्रकार कि अच्छी से अच्छी दवा द्वारा कभी-कभी रोग वश में नहीं हो पाता। ऐसे प्रबल मन को योगाभ्यास द्वारा वश में किया जा सकता है, किन्तु ऐसा अभ्यास कर पाना अर्जुन जैसे संसारी व्यक्ति के लिए कभी भी व्यावहारिक नहीं होता। तो फिर आधुनिक मनुष्य के सम्बन्ध में क्या कहा जाय? यहाँ पर प्रयुक्त उपमा अत्यन्त उपयुक्त है—झंझावात को रोक पाना कठिन होता है और उच्छृंखल मन को रोक पाना तो और भी कठिन है। मन को वश में रखने का सरलतम उपाय, जिसे भगवान् चैतन्य ने सुझाया है, यह है कि समस्त दैन्यता के साथ मोक्ष के लिए “हरे कृष्ण” महामन्त्र का कीर्तन किया जाय। विधि यह है—*स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोः*—मनुष्य को चाहिए कि वह अपने मन को पूर्णतया कृष्ण में लगाए। तभी मन को विचलित करने के लिए अन्य व्यस्तताएँ शेष नहीं रह जाएँगी।

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; असंशयम्—निस्सन्देह; महा-बाहो—हे बलिष्ठ भुजाओं वाले; मनः—मन को; दुर्निग्रहम्—दमन करना कठिन है; चलम्—चलायमान, चंचल; अभ्यासेन—अभ्यास द्वारा; तु—लेकिन; कौन्तेय—हे कुन्तीपुत्र; वैराग्येण—वैराग्य द्वारा; च—भी; गृह्यते—इस तरह वश में किया जा सकता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—हे महाबाहु कुन्तीपुत्र!
निस्सन्देह चंचल मन को वश में करना अत्यन्त कठिन है,
किन्तु उपयुक्त अभ्यास द्वारा तथा विरक्ति द्वारा ऐसा सम्भव है।

तात्पर्य

अर्जुन द्वारा व्यक्त इस हठीले मन को वश में करने की कठिनाई को भगवान् स्वीकार करते हैं। किन्तु साथ ही वे सुझाते हैं कि अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा यह सम्भव है। यह अभ्यास क्या है? वर्तमान युग में तीर्थवास, परमात्मा का ध्यान, मन तथा इन्द्रियों का निग्रह, ब्रह्मचर्यपालन, एकान्त-वास आदि कठोर विधि-विधानों का पालन कर पाना सम्भव नहीं है। किन्तु कृष्णभावनामृत के अभ्यास से मनुष्य भगवान् की नवधाभक्ति का आचरण करता है। ऐसी भक्ति का प्रथम अंग है—कृष्ण के विषय में श्रवण करना। मन को समस्त प्रकार की दुश्चिन्ताओं से शुद्ध करने के लिए यह परम शक्तिशाली एवं दिव्य विधि है। कृष्ण के विषय में जितना ही अधिक श्रवण किया जाता है, उतना ही मनुष्य उन वस्तुओं के प्रति अनासक्त होता है जो मन को कृष्ण से दूर ले जाने वाली हैं। मन को उन सारे कार्यों से विरक्त कर लेने पर, जिनसे कृष्ण का कोई सम्बन्ध नहीं है, मनुष्य सुगमतापूर्वक वैराग्य सीख सकता है। वैराग्य का अर्थ है—पदार्थ से विरक्ति और मन का आत्मा में प्रवृत्त होना। निर्विशेष आध्यात्मिक विरक्ति कृष्ण के कार्यकलापों में मनको लगाने की अपेक्षा अधिक कठिन है। यह व्यावहारिक है, क्योंकि कृष्ण के विषय में श्रवण करने से मनुष्य स्वतः परमात्मा के प्रति आसक्त हो जाता है। यह आसक्ति *परेशानुभूति* या आध्यात्मिक तुष्टि कहलाती है। यह वैसे ही है जिस तरह भोजन के प्रत्येक कौर से भूखे को तुष्टि प्राप्त होती है। भूख लगने पर मनुष्य जितना अधिक खाता जाता है, उतनी ही अधिक तुष्टि और शक्ति उसे मिलती जाती है। इसी प्रकार भक्ति सम्पन्न करने से दिव्य तुष्टि की अनुभूति होती है, क्योंकि मन भौतिक वस्तुओं से विरक्त हो जाता है। यह कुछ-कुछ वैसा ही है जैसे कुशल उपचार तथा सुपथ्य द्वारा रोग का इलाज। अतः भगवान् कृष्ण के कार्यकलापों का श्रवण उन्मत्त मन का कुशल उपचार है और कृष्ण को

अर्पित भोजन ग्रहण करना रोगी के लिए उपयुक्त पथ्य है। यह उपचार ही कृष्णभावनामृत की विधि है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

असंयत—उच्छृंखल; आत्मना—मन के द्वारा; योगः—आत्म-साक्षात्कार; दुष्प्रापः—प्राप्त करना कठिन; इति—इस प्रकार; मे—मेरा; मतिः—मत; वश्य—वशीभूत; आत्मना—मन से; तु—लेकिन; यतता—प्रयत्न करते हुए; शक्यः—व्यावहारिक; अवाप्तुम्—प्राप्त करना; उपायतः—उपयुक्त साधनों द्वारा।

जिसका मन उच्छृंखल है, उसके लिए आत्म-साक्षात्कार कठिन कार्य होता है, किन्तु जिसका मन संयमित है और जो समुचित उपाय करता है उसकी सफलता ध्रुव है। ऐसा मेरा मत है।

तात्पर्य

भगवान् घोषणा करते हैं कि जो व्यक्ति अपने मन को भौतिक व्यापारों से विलग करने का समुचित उपचार नहीं करता, उसे आत्म-साक्षात्कार में शायद ही सफलता प्राप्त हो सके। भौतिक भोग में मन लगाकर योग का अभ्यास करना मानो अग्नि में जल डाल कर उसे प्रज्वलित करने का प्रयास करना हो। मन का निग्रह किये बिना योगाभ्यास समय का अपव्यय है। योग का ऐसा प्रदर्शन भले ही भौतिक दृष्टि से लाभप्रद हो, किन्तु जहाँ तक आत्म-साक्षात्कार का प्रश्न है यह सब व्यर्थ है। अतः मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर मन को लगाकर उसे वश में करे। कृष्णभावनामृत में प्रवृत्त हुए बिना मन को स्थिर कर पाना असम्भव है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के ही योगाभ्यास का फल सरलता से प्राप्त कर लेता है, किन्तु योगाभ्यास करने वाले को कृष्णभावनाभावित हुए बिना सफलता नहीं मिल पाती।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; अयतिः—असफल योगी; श्रद्धया—श्रद्धा से; उपेतः—लगा हुआ, संलग्न; योगात्—योग से; चलित—विचलित; मानसः—मन वाला; अप्राप्य—प्राप्त न करके; योग-संसिद्धिम्—योग की सर्वोच्च सिद्धि को; काम्—किस; गतिम्—लक्ष्य को; कृष्ण—हे कृष्ण; गच्छति—प्राप्त करता है।

अर्जुन ने कहा: हे कृष्ण! उस असफल योगी की गति क्या है जो प्रारम्भ में श्रद्धापूर्वक आत्म-साक्षात्कार की विधि ग्रहण करता है, किन्तु बाद में भौतिकता के कारण उससे विचलित हो जाता है और योगसिद्धि को प्राप्त नहीं कर पाता?

तात्पर्य

भगवद्गीता में आत्म-साक्षात्कार या योग मार्ग का वर्णन है। आत्म-साक्षात्कार का मूलभूत नियम यह है कि जीवात्मा यह भौतिक शरीर नहीं है, अपितु इससे भिन्न है और उसका सुख शाश्वत जीवन, आनन्द तथा ज्ञान में निहित है। ये शरीर तथा मन दोनों से परे हैं। आत्म-साक्षात्कार की खोज ज्ञान द्वारा की जाती है। इसके लिए अष्टांग विधि या भक्तियोग का अभ्यास करना होता है। इनमें से प्रत्येक विधि में जीव को अपनी स्वाभाविक स्थिति, भगवान् से अपने सम्बन्ध तथा उन कार्यों की अनुभूति प्राप्त करनी होती है, जिनके द्वारा वह टूटी हुई शृंखला को जोड़ सके और कृष्णभावनामृत की सर्वोच्च सिद्ध-अवस्था प्राप्त कर सके। इन तीनों विधियों में से किसी एक का भी पालन करके मनुष्य देर-सवेर अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त होता है। भगवान् ने द्वितीय अध्याय में इस पर बल दिया है कि दिव्यमार्ग में थोड़े से प्रयास से भी मोक्ष की महती आशा है। इन तीनों में से इस युग के लिए भक्तियोग विशेष रूप से उपयुक्त है, क्योंकि ईश-साक्षात्कार की यह श्रेष्ठतम प्रत्यक्ष विधि है, अतः अर्जुन पुनः आश्वस्त होने की दृष्टि से भगवान् कृष्ण से अपने पूर्वकथन की पुष्टि करने को कहता है। भले ही कोई आत्म-साक्षात्कार के मार्ग को निष्ठापूर्वक क्यों न स्वीकार

करे, किन्तु ज्ञान की अनुशीलन विधि तथा अष्टांगयोग का अभ्यास इस युग के लिए सामान्यतया बहुत कठिन है, अतः निरन्तर प्रयास होने पर भी मनुष्य अनेक कारणों से असफल हो सकता है। पहला कारण तो यह हो सकता है कि मनुष्य इस विधि का पालन करने में पर्याप्त सतर्क न रह पाये। दिव्यमार्ग का अनुसरण बहुत कुछ माया के ऊपर धावा बोलना जैसा है। फलतः जब भी मनुष्य माया के पाश से छूटना चाहता है, तब वह विविध प्रलोभनों के द्वारा अभ्यासकर्ता को पराजित करना चाहती है। बद्धजीव पहले से प्रकृति के गुणों द्वारा मोहित रहता है और दिव्य अनुशासनों का पालन करते समय भी उसके पुनः मोहित होने की सम्भावना बनी रहती है। यही *योगाच्चलितमानस* अर्थात् दिव्य पथ से विचलन कहलाता है। अर्जुन आत्म-साक्षात्कार के मार्ग से विचलन के प्रभाव के सम्बन्ध में जिज्ञासा करता है।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।

अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; न—नहीं; उभय—दोनों; विभ्रष्टः—विचलित; छिन्न—छिन्न-भिन्न; अभ्रम्—बादल; इव—सदृश; नश्यति—नष्ट हो जाता है; अप्रतिष्ठः—बिना किसी पद के; महा-बाहो—हे बलिष्ठ भुजाओं वाले कृष्ण; विमूढः—मोहग्रस्त; ब्रह्मणः—ब्रह्म-प्राप्ति के; पथि—मार्ग में।

हे महाबाहु कृष्ण! क्या ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग से भ्रष्ट ऐसा व्यक्ति आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों ही सफलताओं से च्युत नहीं होता और छिन्नभिन्न बादल की भाँति विनष्ट नहीं हो जाता जिसके फलस्वरूप उसके लिए किसी लोक में कोई स्थान नहीं रहता?

तात्पर्य

उन्नति के दो मार्ग हैं। भौतिकतावादी व्यक्तियों की अध्यात्म में कोई रुचि नहीं होती, अतः वे आर्थिक विकास द्वारा भौतिक प्रगति में अत्यधिक रुचि लेते हैं या फिर समुचित कार्य द्वारा उच्चतर लोकों को प्राप्त करने में अधिक रुचि रखते हैं। यदि कोई अध्यात्म के मार्ग को चुनता है, तो उसे

सभी प्रकार के तथाकथित भौतिक सुख से विरक्त होना पड़ता है। यदि महत्त्वाकांक्षी ब्रह्मवादी असफल होता है तो वह दोनों ओर से जाता है। दूसरे शब्दों में, वह न तो भौतिक सुख भोग पाता है, न आध्यात्मिक सफलता ही प्राप्त कर सकता है। उसका कोई स्थान नहीं रहता, वह छिन्न-भिन्न बादल के समान होता है। कभी-कभी आकाश में एक बादल छोटे बादलखंड से विलग होकर एक बड़े खंड से जा मिलता है, किन्तु यदि वह बड़े खंड से नहीं जुड़ पाता तो वायु उसे बहा ले जाती है और वह विराट आकाश में लुप्त हो जाता है। *ब्रह्मणः पथि* ब्रह्म-साक्षात्कार का मार्ग है जो अपने आपको परमेश्वर का अभिन्न अंश जान लेने पर प्राप्त होता है और यह परमेश्वर ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् रूप में प्रकट होता है। भगवान् श्रीकृष्ण परम सत्य के पूर्ण प्राकट्य हैं, अतः जो इस परमपुरुष की शरण में जाता है वही सफल योगी है। ब्रह्म तथा परमात्मा-साक्षात्कार के माध्यम से जीवन के इस लक्ष्य तक पहुँचने में अनेकानेक जन्म लग जाते हैं (*बहूनां जन्मनामन्ते*)। अतः दिव्य-साक्षात्कार का सर्वश्रेष्ठ मार्ग भक्तियोग या कृष्णभावनामृत की प्रत्यक्ष विधि है।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।

त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह है; मे—मेरा; संशयम्—सन्देह; कृष्ण—हे कृष्ण; छेत्तुम्—दूर करने के लिए; अर्हसि—आपसे प्रार्थना है; अशेषतः—पूर्णतया; त्वत्—आपकी अपेक्षा; अन्यः—दूसरा; संशयस्य—सन्देह का; अस्य—इस; छेत्ता—दूर करने वाला; न—नहीं; हि—निश्चय ही; उपपद्यते—पाया जाना सम्भव है।

हे कृष्ण! यही मेरा सन्देह है, और मैं आपसे इसे पूर्णतया दूर करने की प्रार्थना कर रहा हूँ। आपके अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा नहीं है, जो इस सन्देह को नष्ट कर सके।

तात्पर्य

कृष्ण भूत, वर्तमान तथा भविष्य के जानने वाले हैं। *भगवद्गीता* के प्रारम्भ में भगवान् ने कहा है कि सारे जीव व्यष्टि रूप में भूतकाल में विद्यमान थे, इस समय विद्यमान हैं और भवबन्धन से मुक्त होने पर भविष्य

में भी व्यष्टि रूप में बने रहेंगे। इस प्रकार उन्होंने व्यष्टि जीव के भविष्य विषयक प्रश्न का स्पष्टीकरण कर दिया है। अब अर्जुन असफल योगियों के भविष्य के विषय में जानना चाहता है। कोई न तो कृष्ण के समान है, न ही उनसे बड़ा। तथाकथित बड़े-बड़े ऋषि तथा दार्शनिक, जो प्रकृति की कृपा पर निर्भर हैं, निश्चय ही उनकी समता नहीं कर सकते। अतः समस्त सन्देहों का पूरा-पूरा उत्तर पाने के लिए कृष्ण का निर्णय अन्तिम तथा पूर्ण है क्योंकि वे भूत, वर्तमान तथा भविष्य के ज्ञाता हैं, किन्तु उन्हें कोई भी नहीं जानता। कृष्ण तथा कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ही जान सकते हैं कि कौन क्या है।

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।

न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच— भगवान् ने कहा; पार्थ—हे पृथापुत्र; न एव—कभी ऐसा नहीं है; इह—इस संसार में; न—कभी नहीं; अमुत्र—अगले जन्म में; विनाशः—नाश; तस्य—उसका; विद्यते—होता है; न—कभी नहीं; हि—निश्चय ही; कल्याण-कृत्—शुभ कार्यों में लगा हुआ; कश्चित्—कोई भी; दुर्गतिम्—पतन को; तात—हे मेरे मित्र; गच्छति—जाता है।

भगवान् ने कहा—हे पृथापुत्र! कल्याण-कार्यों में निरत योगी का न तो इस लोक में और न परलोक में ही विनाश होता है। हे मित्र! भलाई करने वाला कभी बुराई से पराजित नहीं होता।

तात्पर्य

श्रीमद्भागवत में (१.५.१७) श्री नारद मुनि व्यासदेव को इस प्रकार उपदेश देते हैं—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपन्नोऽथ पतेत्ततो यदि ।

यत्र क्वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥

“यदि कोई समस्त भौतिक आशाओं को त्याग कर भगवान् की शरण में जाता है तो इसमें न तो कोई क्षति होती है और न पतन। दूसरी ओर

अभक्त जन अपने-अपने व्यवसायों में लगे रह सकते हैं फिर भी वे कुछ प्राप्त नहीं कर पाते।” भौतिक लाभ के लिए अनेक शास्त्रीय तथा लौकिक कार्य हैं। जीवन में आध्यात्मिक उन्नति अर्थात् कृष्णभावनामृत के लिए योगी को समस्त भौतिक कार्यकलापों का परित्याग करना होता है। कोई यह तर्क कर सकता है कि यदि कृष्णभावनामृत पूर्ण हो जाय तो इससे सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त हो सकती है, किन्तु यदि यह सिद्धि प्राप्त न हो पाई तो भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से मनुष्य को क्षति पहुँचती है। शास्त्रों का आदेश है कि यदि कोई स्वधर्म का आचरण नहीं करता तो उसे पापफल भोगना पड़ता है, अतः जो दिव्य कार्यों को ठीक से नहीं कर पाता उसे फल भोगना होता है। *भागवत पुराण* आश्वस्त करता है कि असफल योगी को चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। भले ही उसे ठीक से स्वधर्माचरण न करने का फल भोगना पड़े तो भी वह घाटे में नहीं रहता क्योंकि शुभ कृष्णभावनामृत कभी विस्मृत नहीं होता। जो इस प्रकार से लगा रहता है वह अगले जन्म में निम्नयोनि में भी जन्म लेकर पहले की भाँति भक्ति करता है। दूसरी ओर, जो केवल नियत कार्यों को दृढ़तापूर्वक करता है, किन्तु यदि उसमें कृष्णभावनामृत का अभाव है तो आवश्यक नहीं कि उसे शुभ फल प्राप्त हो।

इस श्लोक का तात्पर्य इस प्रकार है—मानवता के दो विभाग किये जा सकते हैं—नियमित तथा अनियमित। जो लोग अगले जन्म तथा मुक्ति के ज्ञान के बिना पाशविक इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं वे अनियमित विभाग में आते हैं। जो लोग शास्त्रों में वर्णित कर्तव्य के सिद्धान्तों का पालन करते हैं वे नियमित विभाग में वर्गीकृत होते हैं। अनियमित विभाग के संस्कृत तथा असंस्कृत, शिक्षित तथा अशिक्षित, बली तथा निर्बल लोग पाशविक वृत्तियों से पूर्ण होते हैं। उनके कार्य कभी भी कल्याणकारी नहीं होते क्योंकि वे पशुओं की भाँति आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन का भोग करते हुए इस संसार में निरन्तर रहते हैं, जो सदा ही दुःखमय है। किन्तु जो लोग शास्त्रीय आदेशों के अनुसार संयमित रहते हैं और इस प्रकार क्रमशः कृष्णभावनामृत को प्राप्त होते हैं, वे निश्चित रूप से जीवन में उन्नति करते हैं।

कल्याण-मार्ग के अनुयायियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) भौतिक सम्पन्नता का उपभोग करने वाले शास्त्रीय विधि-विधानों के अनुयायी, (२) इस संसार से मुक्ति पाने के लिए प्रयत्नशील लोग तथा (३) कृष्णभावनामृत के भक्त। प्रथम वर्ग के अनुयायियों को पुनः दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—सकामकर्मी तथा इन्द्रियतृप्ति की इच्छा न करने वाले। सकामकर्मी जीवन के उच्चतर स्तर तक उठ सकते हैं—यहाँ तक कि स्वर्गलोक को जा सकते हैं तो भी इस संसार से मुक्त न होने के कारण वे सही ढंग से शुभ मार्ग का अनुगमन नहीं करते। शुभ कर्म तो वे हैं जिनसे मुक्ति प्राप्त हो। कोई भी ऐसा कार्य जो परम आत्म-साक्षात्कार या देहात्मबुद्धि से मुक्ति की ओर उन्मुख नहीं होता वह रंचमात्र भी कल्याणप्रद नहीं होता। कृष्णभावनामृत सम्बन्धी कार्य ही एकमात्र शुभ कार्य है और जो भी कृष्णभावनामृत के मार्ग पर प्रगति करने के उद्देश्य से स्वेच्छा से समस्त शारीरिक असुविधाओं को स्वीकार करता है वही घोर तपस्या के द्वारा पूर्णयोगी कहलाता है। चूँकि अष्टांगयोग पद्धति कृष्णभावनामृत की चरम अनुभूति के लिए होती है, अतः यह पद्धति भी कल्याणप्रद है, अतः जो कोई इस दिशा में यथाशक्य प्रयास करता है उसे कभी अपने पतन के प्रति भयभीत नहीं होना चाहिए।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

प्राप्य—प्राप्त करके; पुण्य-कृताम्—पुण्य कर्म करने वालों के; लोकान्—लोकों में; उषित्वा—निवास करके; शाश्वतीः—अनेक; समाः—वर्ष; शुचीनाम्—पवित्रात्माओं के; श्री-मताम्—सम्पन्न लोगों के; गेहे—घर में; योग-भ्रष्टः—आत्म-साक्षात्कार के पथ से च्युत व्यक्ति; अभिजायते—जन्म लेता है।

असफल योगी पवित्रात्माओं के लोकों में अनेकानेक वर्षों तक भोग करने के बाद या तो सदाचारी पुरुषों के परिवार में या कि धनवानों के कुल में जन्म लेता है।

तात्पर्य

असफल योगियों की दो श्रेणियाँ हैं—एक वे जो बहुत थोड़ी उन्नति के बाद ही भ्रष्ट होते हैं; दूसरे वे जो दीर्घकाल तक योगाभ्यास के बाद भ्रष्ट होते हैं। जो योगी अल्पकालिक अभ्यास के बाद भ्रष्ट होता है वह स्वर्गलोक को जाता है जहाँ केवल पुण्यात्माओं को प्रविष्ट होने दिया जाता है। वहाँ पर दीर्घकाल तक रहने के बाद उसे पुनः इस लोक में भेजा जाता है जिससे वह किसी सदाचारी ब्राह्मण वैष्णव के कुल में या धनवान वणिग के कुल में जन्म ले सके। योगाभ्यास का वास्तविक उद्देश्य कृष्णभावनामृत की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करना है, जैसा कि इस अध्याय के अन्तिम श्लोक में बताया गया है, किन्तु जो इतने अध्यवसायी नहीं होते और जो भौतिक प्रलोभनों के कारण असफल हो जाते हैं, उन्हें अपनी भौतिक इच्छाओं की पूर्ति करने की अनुमति दी जाती है। तत्पश्चात् उन्हें सदाचारी या धनवान परिवारों में सम्पन्न जीवन बिताने का अवसर प्रदान किया जाता है। ऐसे परिवारों में जन्म लेने वाले इन सुविधाओं का लाभ उठाते हुए अपने आपको पूर्ण कृष्णभावनामृत तक ऊपर ले जाते हैं।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।

एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अथ वा—या; योगिनाम्—विद्वान योगियों के; एव—निश्चय ही; कुले—परिवार में; भवति—जन्म लेता है; धी-मताम्—परम बुद्धिमानों के; एतत्—यह; हि—निश्चय ही; दुर्लभ-तरम्—अत्यन्त दुर्लभ; लोके—इस संसार में; जन्म—जन्म; यत्—जो; ईदृशम्—इस प्रकार का।

अथवा (यदि दीर्घकाल तक योग करने के बाद असफल रहे तो) वह ऐसे योगियों के कुल में जन्म लेता है जो अति बुद्धिमान हैं। निश्चय ही इस संसार में ऐसा जन्म दुर्लभ है।

तात्पर्य

यहाँ पर योगियों के बुद्धिमान कुल में जन्म लेने की प्रशंसा की गई है क्योंकि ऐसे कुल में उत्पन्न बालक को प्रारम्भ से ही आध्यात्मिक प्रोत्साहन प्राप्त होता है। विशेषतया आचार्यों या गोस्वामियों के कुल में ऐसी परिस्थिति है। ऐसे कुल अत्यन्त विद्वान् होते हैं और परम्परा तथा प्रशिक्षण के कारण श्रद्धावान् होते हैं। इस प्रकार वे गुरु बनते हैं। भारत में ऐसे अनेक आचार्य कुल हैं, किन्तु अब वे अपर्याप्त विद्या तथा प्रशिक्षण के कारण पतनशील हो चुके हैं। भगवत्कृपा से अभी भी कुछ ऐसे परिवार हैं जिनमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी योगियों को प्रश्रय मिलता है। ऐसे परिवारों में जन्म

लेना सचमुच ही अत्यन्त सौभाग्य की बात है। सौभाग्यवश हमारे गुरु विष्णुपाद श्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज को तथा स्वयं हमें भी ऐसे परिवारों में जन्म लेने का अवसर प्राप्त हुआ। हम दोनों को बचपन से ही भगवद्भक्ति करने का प्रशिक्षण दिया गया। बाद में दिव्य व्यवस्था के अनुसार हमारी उनसे भेंट हुई।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; तम्—उस; बुद्धि-संयोगम्—चेतना की जागृति को; लभते—प्राप्त होता है; पौर्व-देहिकम्—पूर्व देह से; यतते—प्रयास करता है; च—भी; ततः—तत्पश्चात्; भूयः—पुनः; संसिद्धौ—सिद्धि के लिए; कुरु-नन्दन—हे कुरुपुत्र।

हे कुरुनन्दन! ऐसा जन्म पाकर वह अपने पूर्वजन्म की दैवी चेतना को पुनः प्राप्त करता है और पूर्ण सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से वह आगे उन्नति करने का प्रयास करता है।

तात्पर्य

राजा भरत, जिन्हें तीसरे जन्म में उत्तम ब्राह्मण कुल में जन्म मिला, पूर्व दिव्यचेतना की पुनःप्राप्ति के लिए उत्तम जन्म के उदाहरणस्वरूप हैं। भरत विश्व भर के सम्राट थे और तभी से यह लोक देवताओं के बीच भारतवर्ष के नाम से विख्यात है। पहले यह इलावृतवर्ष के नाम से ज्ञात था। भरत ने अल्पायु में ही आध्यात्मिक सिद्धि के लिए संन्यास ग्रहण कर लिया था, किन्तु वे सफल नहीं हो सके। अगले जन्म में उन्हें उत्तम ब्राह्मण कुल में जन्म लेना पड़ा और वे जड़ भरत कहलाये क्योंकि वे एकान्त वास करते थे तथा किसी से बोलते न थे। बाद में राजा रहूगण ने इन्हें महानतम योगी के रूप में पाया। उनके जीवन से यह पता चलता है कि दिव्य प्रयास अथवा योगाभ्यास कभी व्यर्थ नहीं जाता। भगवत्कृपा से योगी को कृष्णभावनामृत में पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने के बारम्बार सुयोग प्राप्त होते रहते हैं।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव हियते ह्यवशोऽपि सः ।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

पूर्व—पिछला; अभ्यासेन—अभ्यास से; तेन—उससे; एव—ही; हियते—आकर्षित होता है; हि—निश्चय ही; अवशः—स्वतः; अपि—भी; सः—वह; जिज्ञासुः—उत्सुक; अपि—भी; योगस्य—योग के विषय में; शब्द-ब्रह्म—शास्त्रों के अनुष्ठान; अतिवर्तते—परे चला जाता है, उल्लंघन करता है।

अपने पूर्वजन्म की दैवी चेतना से वह न चाहते हुए भी स्वतः योग के नियमों की ओर आकर्षित होता है। ऐसा जिज्ञासु योगी शास्त्रों के अनुष्ठानों से परे स्थित होता है।

तात्पर्य

उन्नत योगीजन शास्त्रों के अनुष्ठानों के प्रति अधिक आकृष्ट नहीं होते, किन्तु योग-नियमों के प्रति स्वतः आकृष्ट होते हैं, जिनके द्वारा वे कृष्णभावनामृत में आरूढ हो सकते हैं। श्रीमद्भागवत में (३.३३.७) उन्नत योगियों द्वारा वैदिक अनुष्ठानों के प्रति अवहेलना की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।

तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानुचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥

“हे भगवन्! जो लोग आपके पवित्र नाम का जप करते हैं, वे चाण्डालों के परिवारों में जन्म लेकर भी आध्यात्मिक जीवन में अत्यधिक प्रगत होते हैं। ऐसे जपकर्ता निस्सन्देह सभी प्रकार के तप और यज्ञ कर चुके होते हैं, तीर्थस्थानों में स्नान कर चुके होते हैं और समस्त शास्त्रों का अध्ययन कर चुके होते हैं।”

इसका सुप्रसिद्ध उदाहरण भगवान् चैतन्य ने प्रस्तुत किया, जिन्होंने ठाकुर हरिदास को अपने परमप्रिय शिष्य के रूप में स्वीकार किया। यद्यपि हरिदास का जन्म एक मुसलमान परिवार में हुआ था, किन्तु भगवान् चैतन्य ने उन्हें नामाचार्य की पदवी प्रदान की क्योंकि वे प्रतिदिन नियमपूर्वक तीन लाख भगवान् के पवित्र नामों—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे—का जप करते थे। और चूँकि वे निरन्तर भगवान् के पवित्र नाम का जप करते रहते थे, अतः यह समझा जाता है

कि पूर्वजन्म में उन्होंने शब्दब्रह्म नामक वेदवर्णित कर्मकाण्डों को पूरा किया होगा। अतएव जब तक कोई पवित्र नहीं होता तब तक कृष्णभावनामृत के नियमों को ग्रहण नहीं करता या भगवान् के पवित्र नाम हरे कृष्ण का जप नहीं कर सकता।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

प्रयत्नात्—कठिन अभ्यास से; यतमानः—प्रयास करते हुए; तु—तथा; योगी—ऐसा योगी; संशुद्ध—शुद्ध होकर; किल्बिषः—जिसके सारे पाप; अनेक—अनेकानेक; जन्म—जन्मों के बाद; संसिद्धः—सिद्धि प्राप्त करके; ततः—तत्पश्चात्; याति—प्राप्त करता है; पराम्—सर्वोच्च; गतिम्—गन्तव्य को।

और जब योगी समस्त कल्मष से शुद्ध होकर सच्ची निष्ठा से आगे प्रगति करने का प्रयास करता है, तो अन्ततोगत्वा अनेकानेक जन्मों के अभ्यास के पश्चात् सिद्धि-लाभ करके वह परम गन्तव्य को प्राप्त करता है।

तात्पर्य

सदाचारी, धनवान या पवित्र कुल में उत्पन्न पुरुष योगाभ्यास के अनुकूल परिस्थिति से सचेष्ट हो जाता है। अतः वह दृढ़ संकल्प करके अपने अधूरे कार्य को करने में लग जाता है और इस प्रकार वह अपने को समस्त भौतिक कल्मष से शुद्ध कर लेता है। समस्त कल्मष से मुक्त होने पर उसे परम सिद्धि—कृष्णभावनामृत—प्राप्त होती है। कृष्णभावनामृत ही समस्त कल्मष से मुक्त होने की पूर्ण अवस्था है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में (७.२८) हुई है—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥

“अनेक जन्मों तक पुण्यकर्म करने से जब कोई समस्त कल्मष तथा मोहमय द्वन्द्वों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है, तभी वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग पाता है।”

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

तपस्विभ्यः—तपस्वियों से; अधिकः—श्रेष्ठ, बढ़कर; योगी—योगी; ज्ञानिभ्यः—ज्ञानियों से; अपि—भी; मतः—माना जाता है; अधिकः—बढ़कर; कर्मिभ्यः—सकाम कर्मियों की अपेक्षा; च—भी; अधिकः—श्रेष्ठ; योगी—योगी; तस्मात्—अतः; योगी—योगी; भव—बनो, होओ; अर्जुन—हे अर्जुन ।

योगी पुरुष तपस्वी से, ज्ञानी से तथा सकामकर्मी से बढ़कर होता है। अतः हे अर्जुन! तुम सभी प्रकार से योगी बनो ।

तात्पर्य

जब हम योग का नाम लेते हैं तो हम अपनी चेतना को परम सत्य के साथ जोड़ने की बात करते हैं। विविध अभ्यासकर्ता इस पद्धति को ग्रहण की गई विशेष विधि के अनुसार विभिन्न नामों से पुकारते हैं। जब यह योगपद्धति सकामकर्मों से मुख्यतः सम्बन्धित होती है तो कर्मयोग कहलाती है, जब यह चिन्तन से सम्बन्धित होती है तो ज्ञानयोग कहलाती है और जब यह भगवान् की भक्ति से सम्बन्धित होती है तो भक्तियोग कहलाती है। भक्तियोग या कृष्णभावनामृत समस्त योगों की परमसिद्धि है, जैसा कि अगले श्लोक में बताया जायेगा। भगवान् ने यहाँ पर योग की श्रेष्ठता की पुष्टि की है, किन्तु उन्होंने इसका उल्लेख नहीं किया कि यह भक्तियोग से श्रेष्ठ है। भक्तियोग पूर्ण आत्मज्ञान है, अतः इससे बढ़कर कुछ भी नहीं है। आत्मज्ञान के बिना तपस्या अपूर्ण है। परमेश्वर के प्रति समर्पित हुए बिना ज्ञानयोग भी अपूर्ण है। सकामकर्म भी कृष्णभावनामृत के बिना समय का अपव्यय है। अतः यहाँ पर योग का सर्वाधिक प्रशंसित रूप भक्तियोग है और इसकी अधिक व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

योगिनाम्—योगियों में से; अपि—भी; सर्वेषाम्—समस्त प्रकार के; मत्-गतेन—मेरे परायण, सदैव मेरे विषय में सोचते हुए; अन्तः-आत्मना—अपने भीतर; श्रद्धा-वान्—पूर्ण श्रद्धा सहित; भजते—दिव्य प्रेमाभक्ति करता है; यः—जो; माम्—मेरी (परमेश्वर की) ; सः—वह; मे—मेरे द्वारा; युक्त-तमः—परम योगी; मतः—माना जाता है।

और समस्त योगियों में से जो योगी अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मेरे परायण है, अपने अन्तःकरण में मेरे विषय में सोचता है और मेरी दिव्य प्रेमाभक्ति करता है वह योग में मुझसे परम अन्तरंग रूप में युक्त रहता है और सबों में सर्वोच्च है। यही मेरा मत है।

तात्पर्य

यहाँ पर भजते शब्द महत्त्वपूर्ण है। भजते भज् धातु से बना है जिसका अर्थ है—सेवा करना। अंग्रेजी शब्द वर्शिप (पूजन) से यह भाव व्यक्त नहीं होता, क्योंकि इससे पूजा करना, सम्मान दिखाना तथा योग्य का सम्मान करना सूचित होता है। किन्तु प्रेम तथा श्रद्धापूर्वक सेवा तो श्रीभगवान् के निमित्त है। किसी सम्माननीय व्यक्ति या देवता की पूजा न करने वाले को अशिष्ट कहा जा सकता है, किन्तु भगवान् की सेवा न करने वाले की तो पूरी तरह भर्त्सना की जाती है। प्रत्येक जीव भगवान् का अंशस्वरूप है और इस तरह प्रत्येक जीव को अपने स्वभाव के अनुसार भगवान् की सेवा करनी चाहिए। ऐसा न करने से वह नीचे गिर जाता है। भागवत पुराण में (११.५.३) इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।

न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥

“जो मनुष्य अपने जीवनदाता आद्य भगवान् की सेवा नहीं करता और अपने कर्तव्य में शिथिलता बरतता है, वह निश्चित रूप से अपनी स्वाभाविक स्थिति से नीचे गिरता है।”

भागवत पुराण के इस श्लोक में भजन्ति शब्द व्यवहृत हुआ है। भजन्ति शब्द का प्रयोग परमेश्वर के लिए ही प्रयुक्त किया जा सकता है, जबकि वर्शिप (पूजन) का प्रयोग देवताओं या अन्य किसी सामान्य जीव के लिए किया जाता है। इस श्लोक में प्रयुक्त अवजानन्ति शब्द भगवद्गीता

में भी पाया जाता है—*अवजानन्ति मां मूढाः*—केवल मूर्ख तथा धूर्त भगवान् कृष्ण का उपहास करते हैं। ऐसे मूर्ख भगवद्भक्ति की प्रवृत्ति न होने पर भी *भगवद्गीता* का भाष्य कर बैठते हैं। फलतः वे *भजन्ति* तथा *वर्शिप* (पूजन) शब्दों के अन्तर को नहीं समझ पाते।

भक्तियोग समस्त योगों की परिणति है। अन्य योग तो भक्तियोग में भक्ति तक पहुँचने के साधन मात्र हैं। योग का वास्तविक अर्थ भक्तियोग है—अन्य सारे योग भक्तियोग रूपी गन्तव्य की दिशा में अग्रसर होते हैं। कर्मयोग से लेकर भक्तियोग तक का लम्बा रास्ता आत्म-साक्षात्कार तक जाता है। निष्काम कर्मयोग इस रास्ते (मार्ग) का आरम्भ है। जब कर्मयोग में ज्ञान तथा वैराग्य की वृद्धि होती है तो यह अवस्था ज्ञानयोग कहलाती है। जब ज्ञानयोग में अनेक भौतिक विधियों से परमात्मा के ध्यान में वृद्धि होने लगती है और मन उन पर लगा रहता है तो इसे अष्टांगयोग कहते हैं। इस अष्टांगयोग को पार करने पर जब मनुष्य श्रीभगवान् कृष्ण के निकट पहुँचता है तो यह भक्तियोग कहलाता है। यथार्थ में भक्तियोग ही चरम लक्ष्य है, किन्तु भक्तियोग का सूक्ष्म विश्लेषण करने के लिए अन्य योगों को समझना होता है। अतः जो योगी प्रगतिशील होता है वह शाश्वत कल्याण के सही मार्ग पर रहता है। जो किसी एक बिन्दु पर दृढ़ रहता है और आगे प्रगति नहीं करता वह कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, राजयोगी, हठयोगी आदि नामों से पुकारा जाता है। यदि कोई इतना भाग्यशाली होता है कि भक्तियोग को प्राप्त हो सके तो यह समझना चाहिए कि उसने समस्त योगों को पार कर लिया है। अतः कृष्णभावनाभावित होना योग की सर्वोच्च अवस्था है, ठीक उसी तरह जैसे कि हम यह कहते हैं कि विश्व भर के पर्वतों में हिमालय सबसे ऊँचा है, जिसकी सर्वोच्च चोटी एवरेस्ट है।

कोई विरला भाग्यशाली ही वैदिक विधान के अनुसार भक्तियोग के पथ को स्वीकार करके कृष्णभावनाभावित हो पाता है। आदर्श योगी श्यामसुन्दर कृष्ण पर अपना ध्यान एकाग्र करता है, जो बादल के समान सुन्दर रंग वाले हैं, जिनका कमल सदृश मुख सूर्य के समान तेजवान है, जिनका वस्त्र रत्नों से प्रभापूर्ण है और जिनका शरीर फूलों की माला से

सुशोभित है। उनके अंगों को प्रदीप्त करने वाली उनकी ज्योति ब्रह्मज्योति कहलाती है। वे राम, नृसिंह, वराह तथा श्रीभगवान् कृष्ण जैसे विभिन्न रूपों में अवतरित होते हैं। वे सामान्य व्यक्ति की भाँति, माता यशोदा के पुत्र रूप में जन्म ग्रहण करते हैं और कृष्ण, गोविन्द तथा वासुदेव के नाम से जाने जाते हैं। वे पूर्ण बालक, पूर्ण पति, पूर्ण सखा तथा पूर्ण स्वामी हैं, और वे समस्त ऐश्वर्यों तथा दिव्य गुणों से ओतप्रोत हैं। जो श्रीभगवान् के इन गुणों से पूर्णतया अभिज्ञ रहता है वह सर्वोच्च योगी कहलाता है।

योग की यह सर्वोच्च दशा केवल भक्तियोग से ही प्राप्त की जा सकती है जिसकी पुष्टि वैदिक साहित्य से होती है (*श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.२३*)—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

“जिन महात्माओं के हृदय में श्रीभगवान् तथा गुरु में परम श्रद्धा होती है उनमें वैदिक ज्ञान का सम्पूर्ण तात्पर्य स्वतः प्रकाशित हो जाता है।”

भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येनामुष्मिन् मनःकल्पनमेतदेव नैष्कर्म्यम्—भक्ति का अर्थ है, भगवान् की सेवा जो इस जीवन में या अगले जीवन में भौतिक लाभ की इच्छा से रहित होती है। ऐसी प्रवृत्तियों से मुक्त होकर मनुष्य को अपना मन परमेश्वर में लीन करना चाहिये। नैष्कर्म्य का यही प्रयोजन है (*गोपाल-तापनी उपनिषद् १.५*)।

ये सभी कुछ ऐसे साधन हैं जिनसे योग की परम संसिद्धिमयी अवस्था भक्ति या कृष्णभावनामृत को सम्पन्न किया जा सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय “*ध्यानयोग*” का *भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*